वेदकालीन राज्यव्यवस्था

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला संख्या—२०१

वेदकालीन राज्यव्यवस्था

लेखक
डा० श्यामलाल पाण्डेय
(एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०)

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९७१

मूल्य
८.००
आठ रुपये

मुद्रक
प्रेम प्रेस कटरा, प्रयाग

प्रकाशकीय

राजनीतिक और प्रशासनिक विधाओं एवं सिद्धान्तों के प्रचलन में सामान्यतः पश्चिमी विद्वानों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इसलिए अरस्तू, प्लेटो जैसे पुरातन मनीषियों से लेकर आधुनिक कालीन लाक, रूसो, स्पेंसर आदि विचारकों को ही साधारणतः राजनीति शास्त्र के व्याख्याता या संस्थापक कहा जाता है। किन्तु इस दिशा में भारत का अपना दृष्टिकोण भी अति प्राचीन एवं विविधतापूर्ण रहा है, सुदूर अतीत युग से ही यहाँ का जन समाज अपनी व्यवस्था के संचालन में भारतीय नीति का सफल उपयोग करता आया है। इतिहास रचना की ओर यहाँ के निवासियों की रुचि न होने के कारण पुरातन भारतीय शासन प्रणाली का कोई क्रमबद्ध उल्लेख या आदर्श आकार तो नहीं पाया जाता, किन्तु विश्व-साहित्य की सर्वप्रथम एवं सुसंघटित रचना वेद-संहिताओं में प्रसंगानुरूप राजनीति एवं शासन तन्त्र का सुनियोजित निरूपण उपलब्ध होता है। अन्वेषणात्मक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि उक्त साहित्य के संकलित होने से पूर्व, अति पुरातन काल मे यहाँ राज-शासन एव वैराज्य (जन-शासन) तक का प्रचलन था और इस सम्बन्ध की विधि-सम्मत संस्थाएं भी स्थापित हो गयी थी।

प्रस्तुत रचना के लेखक डा० श्यामलाल पाण्डेय प्राचीन भारतीय राजनीति के मननशील विद्वान् हैं और अपने इस विषय के गम्भीर पर्यालोचन के बल पर भारतीय समाज के अन्धकारावृत रहस्यों के उद्‌घाटन-कर्ताओं में विशिष्ट स्थान रखते हैं। यह लघु पुस्तिका भी आपके प्राचीन राज्यशासन सम्बन्धी निष्कर्षों को भली प्रकार प्रमाणित करती है। हमें आशा है कि राजनीति एवं समाज शास्त्र के अध्येताओं को इसके द्वारा अपने देश की अज्ञात शासन प्रक्रियाओं के ऊपर एक नया आलोक प्राप्त होगा।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

समाज-अनुबन्धवाद

दैवी सिद्धान्त

अध्याय ४

राज्य का स्वरूप

अध्याय ५

राज्य के तत्व

अध्याय ६

राजा

अध्याय ७

संविधान और विधि

अध्याय ८

राज्य के उच्च कार्यकर्ता

अध्याय ६

कोश

अध्याय १०

प्रमुख संस्थाएं

सभा

समिति

विदथ

अध्याय ११

दूत और चरव्यवस्था

अध्याय १२

राज्य की रक्षा

अध्याय १
वैदिक साहित्य और राजनीतिक सिद्धान्त

वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

वैदिक राजनीतिक सिद्धान्तों के परिचय हेतु हमें आज केवल एक साधन उपलब्ध है, वह है वैदिक साहित्य। इसलिए वैदिक राजनीतिक सिद्धान्तों के अध्ययन हेतु वैदिक साहित्य का विधिवत् अध्ययन अनिवार्य है। वैदिक साहित्य भारतीय आर्यों के जीवन-वृत्तान्त का आदि साहित्य है। वह विशाल एवं अति गहन है। भारतीय आर्यों की जीवन-सरिता का वही एक मात्र स्रोत है। उसी स्रोत से भारतीय जीवन की विविध धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। इसी विशालकाय एवं अति गहन साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रसंग में दिया जायगा।

वैदिक साहित्य मुख्य चार भागों में विभाजित है, जो संहिता भाग, ब्राह्मण भाग, आरण्यक भाग और उपनिषद् भाग कहलाते हैं। भारतीय जनता का एक वर्ग इस सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को वेद मानता है और उसका यह विश्वास है कि यह सम्पूर्ण साहित्य मानव-प्रणीत नहीं है। वह ईश्वरीय ज्ञान है जिसे ईश्वर ने लोक कल्याण हेतु इस सृष्टि के आदि में दिया है। परन्तु अन्य लोग केवल मंत्र भाग को वेद मानते हैं। उनके विचार से शेष तीनों भाग संहिताओं में आये हुए मंत्रों के रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए अनेक ऋषियों द्वारा निर्माण किये गये हैं। इसलिए वैदिक साहित्य के ब्राह्मण भाग, आरण्यक भाग और उपनिषद् भाग को, उनके विचार से, वेद की संज्ञा देना न्याययुक्त नहीं है। इन दो मतों में कौन मत ठीक है, यहाँ इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। अतः इस विषय पर मौन रहना ही उचित है।

संहिता भाग—वैदिक साहित्य के मंत्र भाग को संहिता कहते हैं। संहिताएं चार हैं जो ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता के नाम से लोक में प्रसिद्ध हैं। ये संहिताएँ अपने आधुनिक कलेवर में जनता के समक्ष सर्व-प्रथम कब प्रकट हुईं, यह समस्या अति जटिल है। विद्वानों के अथक प्रयास करने पर भी अभी तक इसका सर्वमान्य समाधान नहीं हो सका है और न इतिहास में ही इस प्रकार का एक भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध है, जिसके आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सके

कि ये चारों संहिताऐं अमुक समय अपने आधुनिक कलेवर में जनता के समक्ष सर्वप्रथम प्रकट हुई थी। कतिपय विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम वेद एक ही था परन्तु कुछ समय के उपरान्त विषयानुसार उस के चार भाग किये गये और फिर इन्हें चार संहिताओं का रूप दिया गया। ये चार संहिताएं लोक में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हुई। परन्तु यह विभाजन कब हुआ था, इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दूसरे विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद प्राचीनतम है। उसके मंत्रों में कुछ हेर-फेर कर तथा कुछ अन्य मंत्रों का संग्रह कर शेष तीन संहिताओं का रूप स्थिर किया गया है। सामवेद तो ऋग्वेद के ही अधिकांश मंत्रों का संग्रह है। अथर्ववेद, उनके मतानुसार, बहुत बाद का है। यही कारण है कि वेद को 'वेदत्रयी' कह कर परम्परागत सम्बोधित किया जाता रहा है। परन्तु इन दोनों मतों में कौन मत सत्य है, यह स्पष्ट कहना गहन समस्या है। परन्तु इतना निःसंदेह है कि ऋग्वेद वैदिक आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस कथन में सभी एक-मत है।

ऋग्वेद का समय

ऋग्वेद के संकलन काल के विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा में अटूट आस्था रखने वाला पण्डित समाज वेदों को अपौरुषेय मानता है। इन पण्डितों का मत है कि वेद अनादि है। सृष्टि रचना के समय जब-जब मनुष्य पृथ्वी पर सर्वप्रथम उत्पन्न होता है उसे अपने विकास के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है और इस ज्ञान के बिना उसका विकास नितान्त अवरुद्ध रहता है। उसके विकास के लिए यह ज्ञान उतना ही अनिवार्य है जितनी कि नेत्र की दर्शन शक्ति के लिए बाह्य प्रकाश की अनिवार्यता है। इस ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान (Divine Knowledge) कहकर पुकारा गया है। इसलिए मनुष्य के विकास एवं उसके कल्याण के निमित्त प्रभु द्वारा यह ज्ञान, वेद के रूप में, मनुष्य को प्रदान किया जाता है। वेद शब्द संस्कृत की 'विद्' धातु से बना है और इसका अर्थ ज्ञान है। इस प्रकार इस पण्डित समाज के मतानुसार वेद सृष्टि-रचना के साथ-साथ प्रकट हुए हैं। इस पण्डित समाज का यह भी मत है कि महाप्रलय के उपरान्त जब-जब ब्रह्मा सृष्टि-रचना करते हैं, वेद भी उसी समय उनके द्वारा प्रकट किये जाते हैं। इनका कथन है कि उनके इस मत की पुष्टि वेद स्वयं करता है।[1] इस प्रकार इस पण्डित समाज के मतानुसार वेद काल-बाधित नहीं है। वेद

१. ९।१९०।१० ऋग्वेद।

के रचना-काल के निर्धारण हेतु सभी प्रयत्न विफल होंगे और इस सम्बन्ध में सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे।

परन्तु विद्वानों का दूसरा समुदाय इस पण्डित समाज के मत से सहमत नहीं है। यह विद्वत्-मण्डली वेद को अपौरुषेय एवं अनादि मानने के पक्ष में नहीं है। इन विद्वानों के मतानुसार वेद ऋषियों के चिन्तन का फल है। वेद उन्हीं की कृति हैं। वेद-मंत्रों का सर्जन अनेक ऋषियों द्वारा समय-समय पर हुआ है। ये मंत्र बहुत समय तक उस काल की जनता में प्रवाहित रहे। समुचित समय के उपरान्त इन वेद-मंत्रों को संगृहीत कर वेदत्रयी—ऋक्, यजुः और साम—का निर्माण किया गया। ये वेद-मंत्र प्राचीन काल में कई श्रेणियों में विभक्त होकर अनेक ऋषि-परिवारों की सम्पत्ति रहे हैं। इन परिवारों में पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य परम्परानुसार ये श्रेणिबद्ध मंत्र जीवित एवं जाग्रत रूप में प्रवाहित रहे। इसी आधार पर वेद श्रुति नाम से प्रसिद्ध हैं। इन ऋषि-परिवारों के आदि ऋषि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ मुख्य हैं। समय व्यतीत होने पर इन मंत्रों (ऋचाओं) का संकलन कर ऋग्वेद का निर्माण किया गया। इस प्रकार ऋग्वेद संकलित ग्रन्थ है। वह किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है और न किसी एक व्यक्ति विशेष के चिन्तन का ही फल है; और इसी प्रकार ऋग्वेद किसी एक निश्चित समय की कृति भी नहीं है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक का अंश प्राचीनतम है। नवम मण्डल का निर्माण इन्हीं मण्डलों की विषयवस्तु के आधार पर हुआ है। आठवाँ मण्डल भी द्वितीय और सातवें मण्डल पर आधारित बतलाया गया है। इन विद्वानों का मत है कि दसवाँ मण्डल अन्य सभी मण्डलों की अपेक्षा नवीन है, प्रथम मण्डल मिश्रित है। इस प्रकार ऋग्वेद ने अपने प्रस्तुत कलेवर को धारण करने में समुचित समय लिया होगा। वह कौन सा समय होगा, इस विषय में भी इन विद्वानों में एकमत नहीं है। परन्तु इसमें सभी एकमत हैं कि वह समय गौतम बुद्ध के उदय-काल से पूर्व भारतीय आर्यों के भारत-प्रवेश के पश्चात् की अवधि में कोई समय रहा होगा। कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद के समय के विषय में लिखा है कि ऋग्वेद के रचना-काल की खोज करना व्यर्थ प्रयास करना है; क्योंकि इस प्रश्न का निश्चित उत्तर प्राप्त होना असम्भव है।

इतना होने पर भी कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के रचना-काल के निर्धारण करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध विद्वान डा० मैक्स मूलर ने ऋग्वेद का रचना-काल,

मितानी राजकुमारों के अभिलेख के आधार पर, ईसा से पन्द्रहवीं अथवा सोलहवीं शताब्दी पूर्व माना है।[1] कतिपय पाश्चात्य विद्वान् पारसियों के धर्मग्रन्थ अवस्ता और ऋग्वेद के कुछ कथानकों तथा प्रसंगों में समानता देखकर दोनों ग्रन्थों को समकालीन बतलाते हैं। इस दृष्टि से ऋग्वेद ईसा से छः अथवा सात सौ वर्ष पूर्व की कृति बतलायी जाती है। सुप्रसिद्ध विद्वान जेकोवी ने ऋग्वेद की दो ऋचाओं के आधार पर ऋग्वेद का कुछ अंश ईसा से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व का माना है। कोलब्रुक ऋग्वेद का निर्माण-काल ईसा से चौदहवीं शताब्दी पूर्व मानते हैं। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् बाल गंगाधर तिलक ने ज्योतिषशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद का समय ईसा से छः हजार वर्ष पूर्व है।

ऋग्वेद के किन्हीं अंशों की भाषा और अवस्ता की गाथाओं की भाषा में सादृश्य है, ऐसा कतिपय विद्वानों का मत है, उसके अनुसार ऋग्वेद के इन अंशों की भाषा ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व की बतलायी जाती है। परन्तु ऋग्वेद की विषयवस्तु इस से कहीं प्राचीन है।

इस प्रकार वैदिक ऋचाएँ ऋग्वेद के रूप में जनता के समक्ष सर्वप्रथम कब प्रस्तुत हुई, इस विषय में विद्वानों में अनेक मत हैं। परन्तु इतना होने पर भी यह निश्चित रूप से सर्वमान्य है कि गौतम बुद्ध के उदय-काल से बहुत पूर्व वेदत्रयी का निर्माण हो चुका था। गौतम बुद्ध के उदय-काल के पूर्व वैदिक कर्मकाण्ड पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। भारत की अधिकांश जनता वैदिक कर्मकाण्ड के बाह्य रूप से असन्तुष्ट हो चुकी थी और अनुभव करने लगी थी कि वैदिक कर्मकाण्ड का यह बाह्य रूप मुक्ति एवं शान्ति का साधन नहीं हो सकता, अपितु वह इनका बाधक ही होगा। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति भारतीय जनता के इसी असन्तोष के फलस्वरूप जैन और बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। इन धर्मों के प्रादुर्भाव के पूर्व उपनिषद् साहित्य और उसके पूर्व आरण्यक और ब्राह्मण-साहित्य की रचना क्रमशः हो चुकी थी। इन साहित्यों को अपने-अपने पूर्ण विकास को प्राप्त होने में लम्बे समय की आवश्यकता हुई होगी। कतिपय विद्वानों का मत है कि इन विविध श्रेणी के वैदिक साहित्यों को अपने अन्तिम स्वरूप को धारण करने में डेढ़ सहस्र वर्ष से कम समय न लगा होगा। इसलिए वैदिक संहिता भाग, इन विद्वानों के

१. हिस्ट्री आफ् ऐंशेण्ट संस्कृत लिटरेचर।

मतानुसार, गौतम बुद्ध के उदय काल से डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व के इधर का नहीं हो सकता। उसका निर्माण इसके पूर्व ही किसी समय हुआ होगा।

वेदों की शाखाएँ

वेदों की अनन्त शाखाएँ बतलायी गयी हैं। जनश्रुति के आधार पर वेदों की ग्यारह सौ-इकतीस शाखाएँ थीं। इनमें ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की एक सौ एक, सामवेद की एक सहस्र और अथर्ववेद की नौ थीं। दुःख का विषय है कि इस समय इन ग्यारह सौ इकतीस शाखाओं मे अति अल्प संख्या में कुछ ही उपलब्ध हैं, अन्य सभी काल के गाल में पड़कर नष्ट हो चुकी हैं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में केवल दो शाखाएं प्राप्त हैं। ऋग्वेद यं प्राप्त दो शाखाए शाकल और वाष्कल हैं। कतिपय विद्वान् ऋग्वेद की तीसरी शाखा वालखिल्य नाम की बतलाते हैं। परन्तु इन तीनों शाखाओं में शाकल शाखा मात्र पूर्ण है, अन्य दो शाखाएँ अपूर्ण हैं। वालखिल्य शाखा के केवल सूक्त प्राप्त हैं जिन्हे शाकल शाखा के आठवें मण्डल में स्थान देकर ऋग्वेद की वालखिल्य शाखा का स्वरूप स्थिर किया जाता है। लगभग यही बात वाष्कल शाखा पर भी चरितार्थ होती ह। औंध, सतारा से श्री सातवलेकर द्वारा ऋग्वेद की जो पोथी प्रकाशित हुई है उसमें अस्सी मंत्र शाकल शाखा से यत्र-तत्र जोड़कर खिलसूक्त की वृद्धि कर, वाष्कल शाखा का स्वरूप स्थिर किया गया है। इस प्रकार, वास्तव में, केवल इसकी शाकल शाखा नाम की एकमात्र शाखा अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध है। इस शाकल शाखा में दस सौ सत्रह सूक्त और दस सहस्र चार सौ बहत्तर ऋचाएं (मंत्र) हैं।

यजुर्वेद दो रूपों में पाया जाता है जो कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत में कृष्ण यजुर्वेद और उत्तर भारत में शुक्ल यजुर्वेद का अधिक प्रचार है। कृष्ण यजुर्वेद गद्य और पद्य (छन्द) दोनों से संयुक्त है। इसमें इसका ब्राह्मण भी सम्मिलित है। इस प्रकार कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रभाग तथा ब्राह्मणभाग दोनों को स्थान दिया गया है और इन दोनों का एकत्र समुच्चय कृष्ण यजुर्वेद नाम से सम्बोधित किया जाता है। परन्तु शुक्ल यजुर्वेद इस रूप में नहीं है। इसमें केवल मंत्रभाग है जो छन्दोबद्ध है। शुक्ल यजुर्वेद में इसके ब्राह्मण को इससे पृथक् रखा गया है। इस प्रकार आधुनिक समय में यजुर्वेद, कृष्ण और शुक्ल, इन दो रूपों में उपलब्ध है। इन दोनों में किसे प्राचीन समझा जाय, यह प्रश्न व्यर्थ उठाना है। इसका सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होना असम्भव है। कतिपय विद्वान् कृष्ण यजुर्वेद के शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा प्राचीन होने के पक्ष में

कुछ प्रमाण देते हैं। दूसरे विद्वान शुक्ल यजुर्वेद को कृष्ण यजुर्वेद की अपेक्षा अधिक प्राचीन बतलाते हैं। परन्तु इन दोनों कोटि के विद्वानों द्वारा दिये गये प्रमाण पुष्ट प्रमाण-कोटि में नहीं आते।

कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएँ भी भिन्न हैं। यों तो जनश्रुति के आधार पर यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाएँ होनी चाहिए। परन्तु आधुनिक युग में कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ और शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मात्र प्राप्त हैं। इस प्रकार यजुर्वेद की कथित एक सौ एक शाखाओं में केवल छः शाखाएँ देखने में आती हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएं कठ संहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रायणी संहिता और तैत्तिरीय संहिता है। शुक्ल यजुर्वेद की दो उपलब्ध शाखाएँ माध्यन्दिनीय शाखा और काण्व शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन दोनों शाखाओं में बहुत कम अन्तर है।

इसी प्रकार सामवेद की एक सहस्र शाखाओं में केवल तीन शाखाएं उपलब्ध हैं। सामवेद की ये तीन शाखाए कौथुमी, राणायनीय और जैमिनीय है। अथर्ववेद की नौ शाखाएं बतलायी गयी हैं। परन्तु इस समय उनमें केवल दो शाखाएँ प्राप्त हैं। अथर्ववेद की ये दो प्राप्त शाखाएँ पैप्पलाद संहिता और शौनक संहिता हैं।

(क) ब्राह्मण साहित्य—वेदों के ब्राह्मण साहित्य में प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण परिगणित किये गये हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध प्रकार के वैदिक यज्ञों, उनके विधिवत् सम्पन्न होने से सम्बन्धित कर्मकाण्ड के कृत्यों, तत्सम्बन्धी विविध पद्धतियों आदि का विशद एवं हेतुयुक्त वर्णन है। सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य वैदिक कर्मकाण्ड-प्रधान है। जिस प्रकार प्रत्येक वेद की अपनी पृथक् शाखाएँ हैं उसी प्रकार उनके ब्राह्मण भी पृथक् ही हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं जो ऐतरेय ब्राह्मण, और कौशीतकी ब्राह्मण हैं। कौशीतकी ब्राह्मण शाखायन ब्राह्मण के नाम से भी विख्यात है। ऐतरेय ब्राह्मण इतरा के पुत्र ऐतरेय महिदास के नाम से सम्बद्ध है। ऐसा ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का यह ब्राह्मण इन्हीं की कृति है। छान्दोग्य उपनिषद् में इन ऐतरेय महिदास का उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद् के इस प्रसंग में उन्हें यज्ञ-दर्शन का विख्यात ज्ञाता बतलाया गया है। यज्ञ के प्रभाव से रोग उन्हें पीड़ित न कर सके और उसी के प्रभाव से उन्होंने एक सौ सोलह वर्ष की आयु का भोग किया था।[1] कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के इन दो पृथक् रूपों के अनुसार उनके ब्राह्मण भी उसी प्रकार भिन्न हैं। कृष्ण यजुर्वेद

१. ७।१६।३ छान्दोग्य उपनिषद्।

का ब्राह्मण तैत्तिरीय और शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ है। शतपथ ब्राह्मण विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें शतपथ अथवा सौ अध्याय हैं। सामवेद के तीन ब्राह्मण इस समय उपलब्ध हैं। सामवेद के ये तीन ब्राह्मण ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण हैं। अथर्ववेद का केवल एक ब्राह्मण है। वह है गोपथब्राह्मण। यह बहुत प्राचीन नहीं है, अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा नवीन है।

इस प्रकार चारों संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण हैं, जिनका समुच्चय ब्राह्मण साहित्य कहलाता है।

(ख) आरण्यक साहित्य—वैदिक युग में तपस्वी ब्राह्मणों ने अरण्य-वास कर वेदों के रहस्यों को समझने का सतत प्रयास किया है—अपने गम्भीर चिन्तन द्वारा इन रहस्यों को जानकर लोक-कल्याण भावना से अपने निर्णयों को गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा जनता तक पहुँचाने का निरन्तर प्रयास किया है। उनके इन्ही प्रयासों का फल आरण्यक साहित्य है। इनमें प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि के समझाने की चेष्टा की गयी है। यह साहित्य मनुष्यमात्र को परमार्थ की ओर आकृष्ट करता है और उसकी प्राप्ति हेतु उन्हें प्रेरित करता है।

ऋग्वेद का आरण्यक उसके ब्राह्मण के समान ही पृथक् आरण्यक है। इस का केवल एक आरण्यक उपलब्ध है जो कौशीतकी आरण्यक नाम से विख्यात है। इसी प्रकार यजुर्वेद के, उसके कृष्ण और शुक्ल भेद के अनुसार, आरण्यक भी पृथक् ही हैं। कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक तैत्तिरीयारण्यक और शुक्ल यजुर्वेद का बृहदारण्यक है। यह आरण्यक साहित्य सांसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्ति का साधन समझा जाता है।

(ग) उपनिषद् साहित्य—वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद् साहित्य कहलाता है। उपनिषद् का अर्थ है समीप बैठना। अर्थात् जो साहित्य जीव को ब्रह्म के निकट पहुँचाने में सहायक है वह उपनिषद् कहलाता है। वैदिक युग में ऋषि-मुनियों ने आश्रम-वास कर जीव, ब्रह्म, आत्मा, प्रकृति आदि गम्भीर विषयों पर चिन्तन एवं मनन किया है। उपनिषद् साहित्य उनके इस चिन्तन एवं मनन के अनुभव का फल है। उपनिषद् साहित्य मनुष्यमात्र को परमार्थ की ओर ले जाने में सहायक है और सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के पुष्ट साधनों एवं उपायों का दिग्दर्शन कराता है। उपनिषद् भी प्रत्येक वेद के अनुसार, ब्राह्मण और आरण्यकों की भाँति ही पृथक्-पृथक् हैं। यों तो उपनिषदों की संख्या की सूची बड़ी लम्बी है परन्तु इनमें मुख्य दस उपनिषद् हैं। ये दस उपनिषद् ईश, केन, प्रश्न, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदार-

ण्यक हैं। कुछ विद्वान् मुख्य उपनिषद् ऐतरेय, कौशीतकी, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक, ईश, केन, कठ, छान्दोग्य, मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्नोपनिषदों को ही बतलाते हैं। यों तो १३५ उपनिषद् बतलायी जाती हैं किन्तु मुक्तिकोपनिषद् में उनकी संख्या १०८ बतलायी गयी है।

उपनिषद् साहित्य भी प्रत्येक वेद का अपना पृथक् है। ऋग्वेद की प्रमुख उपनिषद् ऐतरेय है। कृष्ण यजुर्वेद को चार उपनिषदें बतलायी जाती हैं। वे हैं कठ, श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय और मैत्रायणी। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की ईश और बृहदारण्यक नाम की उपनिषद् हैं। केन और छान्दोग्य ये दो उपनिषद् सामवेद की बतलायी जाती हैं। अथर्ववेद की भी तीन उपनिषदें हैं। ये तीन उपनिषदें मुण्डक, प्रश्न और माण्डूक्य है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य विशाल तथा अत्यन्त उपयोगी साहित्य है। इसमें लौकिक एवं पारलौकिक—मनुष्य के दोनों-कल्याण हेतु साधना एवं उपाय बतलाये गये हैं।

वैदिक साहित्य में राजनीतिक सामग्री

ऋग्वेद के निर्माण-काल के पूर्व भारतीय जनता ने किस प्रकार की राज्य-व्यवस्था स्थापित की थी एव उसके राजनीतिक सिद्धान्तों की क्या रूपरेखा थी, इस विषय का बोध कराने के लिए प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। पुरातत्त्व विभाग के अधीन कतिपय प्राचीन स्थानों की खुदाई हुई है। इस खुदाई में कुछ ऐसी सामग्री भी प्राप्त हुई है जो ऋग्वेदीय युग के पूर्व की बतलायी जाती है, यद्यपि सभी विद्वान् इससे सहमत नही हैं। परन्तु यह सामग्री भी अपने युग की जनता के राजनीतिक जीवन का परिचय देने में विशेष सहायक नहीं है, और इस प्रकार उस सामग्री के आधार पर उस युग की जनता के राजशास्त्र सम्बन्धी विचारों के विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थिति में भारतीय जनता के प्राचीनतम राजनीतिक विचारों के बोध कराने एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं का परिचय प्राप्त करने के निमित्त एकमात्र ऋग्वेद का ही आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु ऋग्वेद में भी इस विषय की जो कुछ भी सामग्री प्राप्त है वह सब-की-सब अस्पष्ट है। इसमें केवल कुछ संकेत मात्र हैं। इस अस्पष्ट एवं सांकेतिक सामग्री के आधार पर ऋग्वेदीय युग के आर्यों के राजनीतिक जीवन का विधिवत् परिचय

प्राप्त करना अत्यन्त जटिल एवं दुरूह समस्या है। यही बात अन्य तीन वेदों के विषय में भी है।

परन्तु इतना होने पर भी वैदिक साहित्य में विविध यज्ञों एवं उनके कृत्यों का वर्णन विधिवत् पाया जाता है, ब्राह्मण साहित्य में उनका विशेष उल्लेख है। इन यज्ञों में कुछ ऐसे यज्ञ भी हैं—राजसूय, अश्वमेध, सोमयज्ञ, सर्वमेध यज्ञ इत्यादि—जिनका राजाओं से विशेष सम्बन्ध है। इन यज्ञों के कृत्यों एवं उनकी विविध पद्धतियों के वर्णनों में कुछ ऐसे प्रसंग आ जाते हैं जिनमे राजा की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध कर्तव्यों, उससे सम्बन्धित कतिपय विशेष पुरुषों एवं संस्थाओं आदि का वर्णन है। इन प्रसंगों के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त कतिपय वैदिक राजनीतिक सिद्धान्तों का भी बोध हो जाता है; और इस प्रकार वैदिक युग के राजनीतिक सिद्धान्तों के स्वरूप की स्थापना करने के निमित्त किसी अंश में सहायता प्राप्त हो जाती है। राजनीति के विद्यार्थी के लिए यह सहायता बड़े महत्त्व की है।

इस मूल्यवान् एव महत्वपूर्ण सामग्री के अतिरिक्त वेदों में प्रसंगवश कुछ ऐसे कथोपकथन भी मिलते है जिनमें वैदिक युग की राजनीतिक स्थिति पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है। इस सामग्री का विवेकपूर्ण उपयोग करने से उस युग के कतिपय राजनीतिक सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त करने में सहायता मिल जाती है। उदाहरण के लिए, पणियों के राजा और सरमा का संवाद विशेष रूप में उल्लेखनीय है।[1] इस संवाद के गम्भीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन से वैदिक युग की दूत-व्यवस्था पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त वेदों में यत्र-तत्र कतिपय ऐसे संकेत हैं जिनका राजनीतिक महत्त्व है। इस श्रेणी की सामग्री अन्य दो वेदों की अपेक्षा ऋग्वेद और अथर्ववेद में अधिक है। इस सामग्री मे सभा, समिति, विदथ आदि संस्थाओं का उल्लेख, वैदिक सेना एवं युद्ध का सांकेतिक वर्णन, राजा की उत्पत्ति, उसके विशेष गुण एव उसकी योग्यता, उसके विशेष कर्तव्यो आदि का सांकेतिक उल्लेख आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में राजनीतिक सामग्री अस्पष्ट एवं सांकेतिक भाषा में है जो अल्प एवं सीमित है। परन्तु उपर्युक्त जो कुछ भी अल्प एवं सीमित सामग्री

१. १ से ११।१०८।१०, ऋग्वेद।

उपलब्ध है वह परम उपयोगी है। उसे संचित कर उसका विश्लेषण करने के उपरान्त उसका गम्भीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन करने पर वैदिक युग के राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है। इस सीमित, अल्प एवं अस्पष्ट सामग्री से यह ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य में कई ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख है जिनकी स्थापना वैदिक ऋषियों ने राज्य-संगठन हेतु की थी और जिनका प्रयोग वैदिक आर्यों ने, सम्भवतः, सर्वप्रथम किया था। यह उनकी मौलिक देन है। इन सिद्धान्तों में समयानुसार विकास होता रहा। समय की गति एवं जनता की माँग के अनुसार उनमें संशोधन एवं परिवर्द्धन होते रहे और वे अपनी संशोधित एवं परिवर्द्धित अवस्था में आधुनिक युग में भी सक्रिय रूप में पाये जाते हैं। इन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उन्हें कतिपय संस्थाओं (Institutions) का भी निर्माण करना आवश्यक था। अतः उन्होंने कतिपय संस्थाओं का भी निर्माण किया था। इनमें से कुछ संस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में है। यह संस्थाएँ भी समय की गति एवं उसके प्रवाह के साथ-साथ गतिशील रहीं और आवश्यकतानुसार अपना कलेवर बदलती हुई विकास को प्राप्त होती रही। इसमें सन्देह नहीं कि इन संस्थाओं में कुछ ऐसी संस्थाएँ भी थीं जो कुछ समय के उपरान्त अनुपयोगी सिद्ध होने लगीं और, इसलिए, जनता ने शनैः शनैः उनका त्याग सर्वदा के लिए कर दिया। इसी कारण आज हमारे जीवन में उनका कहीं पता नहीं चलता, यद्यपि यह संस्थाएँ अपने युग में महान उपयोगी रहीं और अपनी समकालीन जनता की सक्रिय रूप में सेवा करती रही। यद्यपि इन लुप्त हुई संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ संस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनके कलेवर, संगठन, कर्तव्यों, अधिकारों आदि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन, समयानुसार, होते आये है तथापि वह अपने इन परिवर्तनों के साथ आज भी जीवित एवं जाग्रत हैं और हमारे राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये हुए है। इसलिए उक्त सिद्धान्तों, संस्थाओं, पद्धतियों आदि के प्राचीनतम स्वरूप एवं उनके आकार-प्रकार, संगठन कार्यक्षेत्र, प्रभाव आदि के परिचय हेतु वैदिक साहित्य की उपयोगिता परम महत्त्वशालिनी है। इस दृष्टि से राजनीति के इतिहास में वैदिक साहित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसके अध्ययन की उपेक्षा करने से भारतीय राजनीति शास्त्र अपंग रहेगा और आधारहीन हो जायगा।

वैदिक साहित्य में, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, राजनीति सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख है। वैदिक साहित्य में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के कुछ चिह्न प्राप्त हैं। यद्यपि यह चिह्न वैदिक दैवी सिद्धान्त को उसके पूर्वरूप अर्थात्

अविकसित रूप में ही लक्षित करते हैं तथापि इसकी अपनी विशेषता एवं उपयोगिता है। वैदिक युग के उपरान्त समय के प्रवाह के साथ-साथ वैदिक दैवी सिद्धान्त में निरन्तर विकास होता रहा और तदनुसार उसका उपयोग भारतीय जनता के राजनीतिक जीवन में निरन्तर होता रहा। मानव-धर्मशास्त्र के रचना-काल में राजा ने साक्षात् देवरूप धारण कर लिया था। इतना ही नहीं, वरन् इस सिद्धान्त ने पाश्चात्य देशों के राजनीतिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया था, यद्यपि इसका स्वरूप वैदिक दैवी सिद्धान्त से नितान्त भिन्न था और यह सिद्धान्त मध्यकालिक यूरोप के राजनीति-चिन्तकों के मस्तिष्क की अपनी निजी उपज का परिणाम था। इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति के समाज-अनुबन्धवाद के जन्मदाता, सम्भवतः, वैदिक ऋषि ही थे। वैदिक संहिताओं मे इस सिद्धान्त की स्थापना के अनेक प्रमाण हैं। वैदिक समाज-अनुबन्धवाद सिद्धान्त में भी समय की गति के साथ-साथ विकास होता रहा और महाभारत के अनुशासनपर्व के संकलन-काल तक यह सिद्धान्त अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो गया था। मध्यकालिक यूरोप में भी इस सिद्धान्त की बडी महिमा रही, यह उनकी अपनी निजी खोज का परिणाम था। इस सिद्धान्त ने पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तों एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं के स्वरूप, आकार-प्रकार, संगठन, कर्तव्य क्षेत्र आदि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के समाज-अनुबन्धवाद सिद्धान्त के प्राचीनतम स्वरूप को जानने के लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति का विकास सिद्धान्त, राज्य का आवयविक स्वरूप, राज्य का पैतृक स्वरूप, राज्य की प्रभुता का सिद्धान्त, समानता एवं स्वतंत्रता का सिद्धान्त, शोषण-प्रवृत्ति की रोकथाम का सिद्धान्त, राजभक्ति एवं देशभक्ति-सिद्धान्त, मानवता का सिद्धान्त आदि आधुनिक सिद्धान्तों के प्राचीनतम स्वरूपों का सम्यक् बोध वैदिक साहित्य के अध्ययन के बिना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र के इतिहास में वैदिक साहित्य, अति प्राचीन होने पर भी, आधुनिक एवं महत्त्वपूर्ण है। राजनीति के जिज्ञासु के लिए वैदिक साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा करना भारी भूल होगी।

वैदिक राजनीतिक सिद्धान्तों के अध्ययन में असुविधाएँ

प्राचीन भारतीय राजनीति का उद्गम स्थान ऋग्वेद है। ऋग्वेद मुक्तक साहित्य का ग्रन्थ है। ऋग्वेद में अनेक ऋषियों के विचार, विभिन्न विषयों पर, मुक्तक ऋचाओं में दिये हुए हैं। इन ऋचाओं में, विषय की दृष्टि से, परस्पर सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक

ऋचा स्वयं में ही पूर्ण है। इसलिए ऋग्वेद में किसी एक विषय अथवा सिद्धान्त का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नही किया जा सकता। ऋग्वेद में प्राप्त राजनीतिक सामग्री पर भी यही नियम लागू होता है। ऋग्वेद में राजनीति विषयक ऋचाएँ, सम्पूर्ण ग्रन्थ में, यत्र-तत्र मुक्तक छन्दों के रूप में बिखरी हुई हैं। राजनीति परक इन ऋचाओं में भी राजनीति विषय का स्पष्ट वर्णन नहीं है। इन ऋचाओं में राजनीति सम्बन्धी जो सामग्री उपलब्ध है वह सम्पूर्ण सामग्री संकेत रूप में ही है। इस सांकेतिक सामग्री के आधार पर प्राचीन भारतीय राजनीति का स्पष्ट स्वरूप स्थिर करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ में बिखरी हुई इस सामग्री का संचय करना और फिर उसका विश्लेषण कर उसे सैद्धान्तिक रूप दे देना कोई साधारण कार्य नहीं है। यही बात अन्य तीन संहिताओं के विषय में भी है। इन तीन संहिताओं—यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—में भी राजनीति विषय का न तो क्रमबद्ध वर्णन ही मिलता है और न उसका कही स्पष्ट उल्लेख ही है। इन परिस्थितियों में वैदिक राजनीति के स्वरूप का स्थिर करना एवं उसके अधीन सांकेतिक अस्पष्ट भाषा में लक्षित राजनीतिक सिद्धान्तों के स्वरूप की स्थापना करना अत्यन्त गहन एवं जटिल समस्या का रूप धारण कर लेता है।

संहिताओं के उपरान्त ब्राह्मण साहित्य का स्थान है। इस साहित्य में वैदिक यज्ञों एवं तत्सम्बन्धी कृत्यों तथा पद्धतियों की तार्किक विवेचना का प्राधान्य है। राजनीति सम्बन्धी जो कुछ भी सामग्री इस साहित्य में उपलब्ध है वह सब-की-सब वैदिक कर्मकाण्ड से ओतप्रोत है। अत. इस सामग्री से शुद्ध राजनीतिक सामग्री का संचय और उसका विश्लेषण करने के उपरान्त उसके शुद्ध स्वरूप का संस्थापन करना अति गहन समस्या है। इन्ही असुविधाओं के कारण राजनीति सम्बन्धी इस सामग्री ने शुद्ध एवं स्पष्ट राजनीतिक सिद्धान्तों का स्वरूप धारण नहीं कर पाया है।

इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य के इन प्रसंगों मे वैदिक पारिभाषिक पदावली, संस्थाओं, पद्धतियों, परम्पराओं आदि का जो प्रयोग एवं उल्लेख है उनका वास्तविक अर्थ एवं उनके वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेना अत्यन्त गहन समस्या है। आज कोई भी ऐसा पुष्ट साधन उपलब्ध नहीं है जिसके द्वारा वैदिक पारिभाषिक पदों वा शब्दों का स्पष्ट एवं यथार्थ बोध हो सके। आधुनिक युग के मनुष्य के लिए वैदिक संस्कृत भाषा के वास्तविक रहस्यो को समझ लेना असम्भव है।

वैदिक युग का अवशेष साहित्य, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य, ब्रह्मज्ञान-प्रधान

है। इस साहित्य में राजनीति सम्बन्धी विषयों का प्रायः प्रभाव है। इसलिए वैदिक राजनीतिक सिद्धान्तों के अध्ययन हेतु यह साहित्य विशेष उपयोगी नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक विशेष असुविधा यह भी है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में एक भी ऐसा ग्रन्थ अथवा प्रसंग नहीं है जो शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से लिखा गया हो। इन परिस्थितियों में यह कहना उपयुक्त ही है कि वैदिक आर्यों के राजनीतिक विचारों के बोध हेतु आधुनिक युग में एक भी पुष्ट साधन अभी तक उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त असुविधाओं के कारण वैदिक राजनीति के स्वरूप का निर्धारण एवं उसके अन्तर्गत विविध सिद्धान्तों की रूपरेखा का निश्चय करना और फिर उनका मूल्यांकन करना गहन एवं जटिल समस्या है।

अध्याय २

वैदिक समाज के तत्त्व

वैदिक समाज का निर्माण और उसका स्वरूप

ऋग्वेद में कुछ ऐसे मंत्र हैं जिनमें समाज-निर्माण की प्रक्रिया का संक्षिप्त उल्लेख है। ऋग्वेद के इन मंत्रों में समाज-निर्माण की अनूठी योजना की रूपरेखा दी गयी है। इस योजना से ज्ञात होता है कि वैदिक विचारधारा के अनुसार समाज शाश्वत है। वह मनुष्यकृत नहीं है। वह दैवकृत संस्था है। वैदिक समाज भौगोलिक प्रतिबन्धों से मुक्त है। वह किसी विशेष स्थान, प्रान्त अथवा देश तक ही सीमित नहीं रहता। उसका क्षेत्र मनुष्य मात्र तक है। प्रभु ने स्वयं, कार्य-विभाजन सिद्धान्त के आधार पर, समाज का निर्माण किया है। इस पृथ्वी तल पर मनुष्य समाज में ही उत्पन्न होता है, उसकी सम्पूर्ण लीलाएँ समाज में ही होती हैं और समय आने पर, समाज में ही उसका अन्त होता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार समाज का जन्म सृष्टि-रचना के साथ ही हुआ है। इसलिए मनुष्य के इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं आता जब समाज का अन्त होता हो। इतना अवश्य है कि समाज को, अपने इस लम्बे जीवन-काल में, कभी-कभी विशेष विषम परिस्थितियों में प्रवेश कर जीवन-निर्वाह करना पड़ता है और उन विशेष परिस्थितियों में समय, परिस्थिति तथा स्थान के अनुसार कुछ ऐसी घटनाएँ तथा ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं जिनके कारण समाज दूषित एवं विकृत हो जाता है। इन विषम परिस्थितियों से समाज के उद्धार हेतु कतिपय विशिष्ट महापुरुषों की आवश्यकता होती है जो समय-समय पर इस भूतल पर जन्म लेते रहते हैं और समाजोद्धार में यथासम्भव सम्यक् योगदान देकर समाज को इन विकारों से मुक्त रखने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। समाज के लम्बे इतिहास में ऐसी घटनाएँ प्रायः होती रहती हैं।

समाज शाश्वत एवं दैवकृत है, वह भौगोलिक प्रतिबन्धों से मुक्त है; आदि तथ्यों को ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं में स्पष्ट करते हुए इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये है—अखिल ब्रह्माण्ड एक महामानव अथवा विराट् पुरुष माना गया है। उस विराट् पुरुष का नेत्र सूर्य है, उसका मन चन्द्रमा, उसके कान और प्राण वायु हैं। उसका

मुख अग्नि, उसकी नाभि अन्तरिक्ष, उसका मस्तक द्यु लोक और उसके पाद पृथ्वी हैं।[१] इसी प्रकार उस विराट् पुरुष से ही समाज का भी निर्माण हुआ है।

ऋग्वेद के इन मंत्रों के अनुसार मनुष्य चार मुख्य श्रेणियों में विभक्त होते हैं। वेद मे इन चार श्रेणियों को ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र की संज्ञा दी गयी है। इनकी उत्पत्ति भी उसी विराट् पुरुष के विविध अंगों से बतलायी गयी है। विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओ से राजन्य, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है, वेद का ऐसा मत है।[२] कालान्तर में इन चार श्रेणियों को चातुर्वर्ण्य की संज्ञा दी गयी और जिसे भारतीय समाज का आधार माना गया है। भारतीय समाज का संगठन एव उसका विकास इसी 'चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था' के आधार पर हुआ है। इस प्रकार वेद-मत के अनुसार समाज का निर्माण सृष्टि-रचना के साथ ही हुआ है।

इस दृष्टि से समाज शाश्वत है। मनुष्य उसी समाज का सदस्य है, उसी समाज में वह जीवनपर्यन्त कार्य करता रहता है और अन्त मे वह उसी समाज में विलीन हो जाता है। समाज-निर्माण के इस सिद्धान्त को ऋग्वेदीय युग के उपरान्त, प्राचीन भारत में, लगभग सभी समाज-शास्त्रियों ने स्वीकार कर उसे मान्यता दी है। उन्होंने भी समाज को शाश्वत एवं दैवकृत माना है। इसी आधार पर उन्होंने सामाजिक धर्म को शाश्वत एव पुनीत मानकर उसकी प्रतिष्ठा की है।

समाज के गुण

ऋग्वेद में समाज-निर्माण तथा उसके संगठन पर जो विचार व्यक्त किये गये है, उनके गम्भीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेदीय ऋषियों ने समाज के सम्यक् सचालन हेतु कतिपय विशेष गुणों की आवश्यकता अनुभव की थी। ऋग्वेद के इस प्रसंग के आधार पर ऐसा स्पष्ट है कि समाज के अस्तित्व के निमित्त ये गुण होने अनिवार्य हैं और इन्ही गुणों के आधार पर समाज के सदस्यों में कार्य-वितरण होना चाहिए। समाज के ये गुण बुद्धि, रक्षणशक्ति, भरण-पोषण की सामर्थ्य, श्रमशक्ति और मौलिक एकता तथा समानता हैं। समाज में बुद्धि ब्राह्मण, रक्षण शक्ति राजन्य, भरण-पोषण की सामर्थ्य वैश्य और श्रमशक्ति शूद्र हैं। समाज के ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र, यह सभी एक ही विराट् पुरुष के अंग हैं, यद्यपि उनके पृथक्-पृथक् कर्तव्य

१. १३।९०।१० ऋग्वेद। २. १२।९०।१० ऋग्वेद।

निर्धारित हैं। एक ही पुरुष के शरीर के विविध अंग होने के कारण उनमें मौलिक एकता तथा समानता है। ऋग्वेद के अनुसार वही आदर्श समाज है, जिसमें कार्य-विभाजन की इस योजना के आधार पर समाज का संगठन है।

ऋग्वेद के इस प्रसंग के अनुसार वैदिक समाज के उपर्युक्त पाँच गुण होते हैं। इन्ही पाँच गुणों को धारण किये रहने पर समाज का अस्तित्व निर्भर है। समाज के इन गुणों के अविकृत एवं शुद्ध रहने पर समाज लोक के लिए आदर्श समाज रहता है। जब तक उसके यह गुण अपने स्वाभाविक रूप में बने रहते हैं तब तक वह वैसा ही बना रहता है। यूनान के प्रमुख सुविख्यात दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने अपने आदर्श नगर-राज्य (City State) के लिए लगभग इन्ही गुणों का निर्धारण किया है। उसका मत है— जब राज्य की जनता में कार्य-विभाजन इन गुणों के आधार पर होता है, आदर्श राज्य का निर्माण होता है, और इस प्रकार के राज्य में सभी व्यक्तियों, वर्गों तथा संस्थाओं आदि का समान कल्याण होता है और सर्वोदय होता है।

समाज का उद्देश्य

समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व समाज के सदस्यों में समान उद्देश्य का होना है। इसलिए ऋग्वेदीय समाज का भी एक उद्देश्य होना चाहिए। ऋग्वेद में समाज के उद्देश्य को स्पष्ट शब्दों में कहीं भी व्यक्त नही किया गया है। परन्तु समाज का वर्णन जिस रूप में ऋग्वेद में उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि जिस उद्देश्य को समक्ष रखकर वैदिक समाज का निर्माण हुआ है, वह यह है कि समाज के सभी सदस्य ऐसा जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकें, जिस जीवन में उन्हें इस लोक में सुख और शान्ति की प्राप्ति हो और मरणोपरान्त परलोक में अक्षय आनन्द की प्राप्ति हो सके, जिसे मोक्ष प्राप्ति के नाम से सम्बोधित किया गया है। वैदिक आदर्शों के अनुसार मानव-जीवन का यही उद्देश्य है; इसी की प्राप्ति-हेतु मनुष्य के लिए प्रत्येक प्रकार की सुविधा देना एवं उसके मार्ग में उपस्थित होने वाले विघ्न, बाधाओं का शमन कर उसे प्रशस्त एवं सुगम बनाना समाज का काम है।

गुणानुसार कार्य-निर्धारण

जीवन-निर्वाह हेतु मनुष्य कोई-न-कोई व्यवसाय अवश्य धारण करता है। अपने-अपने विशेष गुण एवं स्वभाव के अनुसार मनुष्यों में भिन्नता होती है। एक ही प्रकार का कार्य सभी मनुष्यों के लिए न तो अनुकूल ही होता है और न समाज के लिए ही हित-

कर। इसलिए व्यवसाय की दृष्टि से वह समाज श्रेष्ठ समझा जाता है जिसमें उसके सभी सदस्य अपने-अपने गुण, स्वभाव एवं कार्यक्षमता के अनुसार व्यवसाय धारण करते हैं। आधुनिक युग में व्यवसाय की दृष्टि से प्रायः अस्तव्यस्तता दिखलाई देती है। भारत में तो इसका विकट रूप पाया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस देश में व्यवसाय एवं धन्धे सुचारु रूप में नहीं चलते हैं। उनमें आशानुसार विकास एवं प्रगति नहीं हो रही है। सभी ओर व्यवसाय एवं काम-धन्धों में प्रायः शैथिल्य प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। मनुष्य को उसकी रुचि के अनुसार कार्य न मिलने पर उसका समस्त उत्साह एवं साहस नष्ट हो जाता है। इसीलिए अपने तथा लोक कल्याण के हेतु यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं अपने गुण, स्वभाव और कार्यक्षमता का भली भाँति ज्ञान रखे और तदनुसार व्यवसाय धारण करे।

इस तथ्य को वैदिक ऋषियों ने भली भाँति समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने मनुष्य के लिए विविध व्यवसायों के निमित्त व्यवसाय के अनुसार पृथक-पृथक् उपयुक्त गुणों का उपदेश करना न्याययुक्त समझा था, जिससे मनुष्य उनसे अवगत होकर अपने गुण, स्वभाव एवं अपनी कार्यक्षमता के अनुरूप व्यवसाय धारण कर सके तथा तदनुसार अपने और अपने समाज के कल्याण-साधन में योगदान कर सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वैदिक ऋषियों ने मनुष्यों का निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है। अपने इस निरीक्षण में वे कुछ निर्णयों पर पहुँचते दिखलाई पड़ते हैं और लोक-कल्याण हेतु इन निर्णयों को उन्होंने लोक के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनकी यह सेवा महान् एवं चिरन्तन है। उनकी इस सेवा के लिए लोक उनका सदैव ऋणी रहेगा। इस विषय के कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

विविध व्यवसायों एवं कार्यों के अनुरूप गुण, स्वभाव तथा कार्यक्षमता का उल्लेख यजुर्वेद में संक्षिप्त रूप में उपलब्ध है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है—ब्रह्मज्ञान के उन्नयन हेतु ब्राह्मण, रक्षा कार्य सम्पादन हेतु क्षत्रिय, कृषि, पशुपालन व्यापार आदि के लिए वैश्य, कठोर परिश्रम के लिए शूद्र को, अन्धकार में कार्य करने के लिए चोर को, विषय सेवन के लिए व्यभिचारिणी और निन्दा के लिए नीच पुरुष को जानना चाहिए।[1] नृत्त के लिए सूत, गीत के लिए गायक, न्याय सम्पादन हेतु सभासद, प्रमोद के लिए स्त्री-सखा, मेधा के लिए रथकार और धैर्य के लिए तक्षा को जाने।[2] ताप क्रिया

१. ५।३० यजुर्वेद। २. ६।३० यजुर्वेद।

के लिए कुम्भकार, आश्चर्यपूर्ण रचना के लिए लोहार, सौन्दर्य के लिए मणिकार, शोभा के लिए माली, बाण-निर्माण के लिए इषुकार, क्रूरता के लिए व्याध और मृत्यु दण्ड के लिए कुत्तों द्वारा आखेट करने वालों को जानना चाहिए।[1] नदी के लिए मछुओं, गमनागमन करने वाली नौका के लिए निषाद, सर्प विद्या के लिए साहसी, पासों के लिए जुआरी और श्रम-उद्योग के लिए जुआ न खेलने वाले को जानना चाहिए, इत्यादि।[2]

इस प्रकार यजुर्वेद में विविध प्रकार के व्यवसायों तथा कार्यों और उनके अनुरूप मनुष्य के गुण, स्वभाव तथा कार्यक्षमता का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस प्रसंग में यजुर्वेद का तीसवाँ अध्याय विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य है।

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि समाज में व्यवसायों एवं धन्धों को धारण करने के लिए वेद में जो इस प्रकार मनुष्य के गुण, स्वभाव और उसकी कार्यक्षमता का पृथक्-पृथक् उल्लेख है, समाज के आर्थिक कल्याण-हेतु परम उपयोगी है। वेद की यह लोक-सेवा मनुष्य के आर्थिक जीवन में अद्वितीय एवं अपूर्व है। परन्तु इस विषय में यह स्मरण रहे कि वेद में उल्लिखित व्यवसाय सम्बन्धी यह विशेषताएँ तत्सम्बन्धी सिद्धान्त मात्र को लक्षित करने के लिए दी गयी हैं। समय, परिस्थिति एवं स्थान के अनुसार उनके बाह्य रूप में परिवर्तन, संशोधन अथवा परिवर्द्धन यथासम्भव किया जा सकता है। परन्तु मौलिक सिद्धान्त शाश्वत ही रहेगा।

समाज निर्माण का आवयविक सिद्धान्त

समाजशास्त्र के इतिहास में वैदिक साहित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। मानव इतिहास में, सम्भवतः, ऋग्वेद सर्वप्रथम ग्रन्थ है जिसमें 'आवयविक सिद्धान्त' का आश्रय सृष्टि-रचना एवं समाज-निर्माण में किया गया है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ऋग्वेद का पुरुषसूक्त है। इस प्रसंग में अखिल ब्रह्माण्ड का समष्टि रूप 'महामानव' अथवा विराट् पुरुष माना गया है। उसी विराट् पुरुष के विविध अंगों-प्रत्यंगों से ब्रह्माण्ड जाग्रत अवस्था में आया है और तदनुसार व्यक्त हुआ है। उस विराट् पुरुष में असंख्य शीर्ष, असंख्य मुख, असंख्य नेत्र, असंख्य हाथ-पैर आदि शरीर के विविध अंगों की कल्पना की गयी है।[3] उसी विराट् पुरुष के अंगों-प्रत्यंगों से ग्राम तथा अरण्यवासी प्राणियों एवं पदार्थों

१. ७।३० यजुर्वेद। २. ८।३० यजुर्वेद। ३. १।९०।१० ऋग्वेद।

की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[1] इसी प्रकार उसी विराट् पुरुष के शरीर के विविध अवयवों से विविध प्रकार की चल और अचल सृष्टि का सृजन हुआ है।

ऋग्वेद में वर्णित सृष्टि-रचना सम्बन्धी उपर्युक्त प्रसंग से यह स्पष्ट है कि आवयविक सिद्धान्त की सर्वप्रथम स्थापना, इस लोक में, ऋग्वेदीय युग में हुई थी। इसी प्रकार समाज का निर्माण भी उसी विराट् पुरुष के विविध अवयवों से हुआ है, ऐसी कल्पना कर समाज के आवयविक स्वरूप की भी स्थापना की गयी है। इस दृष्टि से समाज-निर्माण के आवयविक सिद्धान्त का आदिस्रोत ऋग्वेद को मानना भी न्यायोचित होगा।

१. ८।९०।१० ऋग्वेद।

अध्याय ३

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

वैदिक साहित्य मे आर्यों के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन है। उसका रूप मुक्तक है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य, प्रधानतः मुक्तक साहित्य के रूप में आज हमे उपलब्ध है। वह राजनीति-प्रधान नही है। इसीलिए उसके राजनीतिक स्वरूप का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होना असम्भव हो जाता है। यही बात वैदिक राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तो पर समान रूप से चरितार्थ होती है। वैदिक राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों, उनके स्वरूप, उनके क्रमिक विकास आदि का स्पष्ट उल्लेख वैदिक साहित्य में नही है। परन्तु जीवन की अन्य समस्याओं एवं उनके समाधान के साधनों का वर्णन करते हुए प्रसगवश कुछ ऐसी सामग्री भी प्राप्त है जो राज्य की उत्पत्ति के विषय में कुछ परिचय देने मे सहायक है। इस सामग्री के विवेचनात्मक अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य अपने राज्य की उत्पत्ति के कतिपय हेतुओं मे विश्वास रखते थे। इन्ही विविध हेतुओं के आधार पर उन्होंने राज्य की उत्पत्ति के कई सिद्धान्तों की कल्पना की थी। उनकी इस कल्पना के आधार पर ऐसा विदित होता है कि वह राज्य की उत्पत्ति के मुख्य तीन सिद्धान्तो में आस्था रखते थे। राज्य की उत्पत्ति के इन्हा तीन सिद्धान्तों का यथासम्भव परिचय इस अध्याय मे दिया जायगा।

युद्ध सिद्धान्त

आर्य-अनार्य संघर्ष

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदकालीन भारत मे आर्य बस्तियों के समीप कुछ अन्य बस्तियाँ भी थी। इन बस्तियों मे आर्यों से भिन्न लोग रहते थे। इन बस्तियों के निवासियों और इनके पड़ोसी आर्य-बस्तियों के निवासियों के जीवन में अन्तर था। इन आर्य-इतर बस्तियों के निवासियों को वेदों में पणि, नग्न, ह्वर, कीकट, वेकनाट आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। पणि लोग व्यापार-कुशल थे। वेदों में पणि जाति को व्यापारियों की श्रेणी में परिगणित किया गया है। ऋग्वेद में पणि

जाति को धनी एवं भोग-विलासी बतलाया गया है।[1] वेदों में जब-तब इस ओर भी संकेत है कि पणि जाति के लोग अपने पड़ोसी आर्यों की बस्तियों में प्रवेश कर आर्यों की सम्पत्ति, पशु आदि की चोरी किया करते थे।[2] नग्न जाति के लोग सम्भवतः नग्न रहते थे। यजुर्वेद में इनके नेता को नग्नपति की उपाधि से विभूषित किया गया है।[3] ह्वर जाति अति क्रूर बतलायी गयी है।

आर्य-इतर यह जातियाँ अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व करती थीं। उनकी दृष्टि में आर्य-सभ्यता निन्दनीय एवं दोषपूर्ण थी। वह वैदिक देवों की पूजा करना उचित नहीं समझते थे। उनके व्रतों, यज्ञों आदि के कृत्यों में इन आर्य-इतर जाति के लोगों की आस्था न थी। इसलिए वैदिक आर्यों और उनकी इन पड़ोसी जातियों के मध्य निरन्तर संघर्ष होते रहते थे। वेदों में अनेक ऐसे मंत्र है जिनमें इन जातियों को दूर रखने और उनके नाश हेतु प्रार्थनाएँ की गयी हैं। इनमें कुछ इस प्रकार है—हे वरुण देव ! हमारे शत्रुओं का नाश कीजिए।[4] हे इन्द्र देव ! राक्षसों का समूल नाश कर हमारी रक्षा कीजिए; ब्रह्मद्वेषियों का नाश हेति अस्त्र द्वारा कर दीजिए।[5] ब्रह्मद्वेषी अपव्रत धारण करने वाले लोगों का नाश कीजिए।[6] हे अग्नि देव ! दान न करने वाले तथा देवों की उपासना न करने वाले हमारे शत्रुओं से युद्ध कीजिए और उन्हें दूर खदेड़ दीजिए।[7] इसी प्रकार पणि जाति के विषय में यजुर्वेद में उल्लेख है—आर्य देवों के द्वेषी पणि लोग दुःख देने वाले है। वह यहाँ से दूर भाग जायँ।[8] ह्वर जाति के लोगों के भी दूर रहने के लिए प्रार्थना की गयी है—आर्य-व्रतो से भिन्न आचरण करने वाले एवं आर्यों से द्वेष करने वाले ह्वर जाति के लोगों को दूर रखें।[9] अथर्ववेद में पणि जाति के नाश हेतु प्रार्थना की गयी है।[10]

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य और उनकी पड़ोसी अनार्य जातियों में परस्पर संघर्ष होते रहते थे। इन संघर्षों में विजेता पराजित जाति के लोगों को दास भी बना लिया करते थे। इसीलिए इस प्रकार की दासता से मुक्त

१. ८।३३।१ ऋग्वेद। ७।२५।४ ऋग्वेद। २. ६।२४।२ ऋग्वेद।
३. ३१।२१ यजुर्वेद। ४. ९।८६।१ ऋग्वेद।
५. ३।९।१ ऋग्वेद। १७।३०।३ ऋग्वेद। ६. ३।१७५।१ ऋग्वेद।
७. ९।४२।५ ऋग्वेद एवं यजुर्वेद। ८. १।३५ यजुर्वेद।
९. २०।३८ यजुर्वेद। १०. ५।२५।२० अथर्ववेद।

रहने के लिए वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र प्रार्थनाएँ की गयी हैं। यह प्रार्थनाएँ इस प्रकार की गयी हैं—जो हमें दास बनाना चाहता है या बनाता है उस नीच को नरक प्राप्त कराइये।[1]

इस प्रकार वैदिक आर्यों को अपने समीपवर्ती आर्य-इतर जातियों से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता था, जिसका परिणाम युद्ध होते थे। इन युद्धों में विजयी होने पर ही वैदिक आर्यों एवं उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का जीवित रहना निर्भर था।

आर्य राजा का निर्माण

वैदिक आर्य लोग शान्ति प्रिय थे। उनके मुख्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन, साधारण व्यापार आदि थे। वह पारस्परिक सहयोग एवं सद्‌भावना से जीवन व्यतीत करना चाहते थे। परन्तु उनके समीपवर्ती अनार्य जातियों और उनके मध्य जो संघर्ष हो रहे थे उनके कारण उनका शान्तिमय जीवन अधिक समय तक स्थायी न रह सका। उन्हें अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा आश्रितों की प्राण-रक्षा के निमित्त कुछ-न-कुछ उपाय करना आवश्यक था। इसलिए उन्होंने यह उचित समझा कि उनका एक शक्तिशाली नेता होना चाहिए, जिसके नेतृत्व में रहकर वह अपनी रक्षा एवं अपने इन पड़ोसी आर्य-इतर जातियों के दमन हेतु सफलतापूर्वक युद्ध-संचालन कर सकें और अपने इस नेता के आदेशों का पालन करते हुए वह अपना जीवन पूर्ववत सुख और शान्तिपूर्वक व्यतीत कर सकें। अपने लिए इस प्रकार के नेता को रखने की योजना को चिरस्थायी करने के लिए उन्होंने उसके निमित्त एक नवीन एवं महत्त्वपूर्ण विशेष पद का निर्माण किया। उनके इस नेता में समय एवं परिस्थिति के अनुसार कुछ विशेष योग्यताएँ एवं गुण थे जिनके धारण करने के कारण वह नेता अपने जनसमुदाय के अन्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक एवं विशेष प्रकाशित तथा तेजयुक्त था। इसलिए उन्होंने अपने इस नूतन नेता को राजा और उसके पद को राजपद की संज्ञा दी।[2] उन्होंने वचन दिया कि वह अपने इस नेता को कर्तव्यपालन में समर्थ रखने के लिए धन, जन, बुद्धि आदि से उसकी सदैव सहायता करते रहेंगे। उनकी इस सहायता के बदले में वह उनकी आन्तरिक विघ्न-बाधाओं का शमन करता रहेगा और बाह्य शत्रुओं से उनकी निरन्तर रक्षा करता रहेगा।

इस प्रकार वैदिक आर्य सामाजिक जीवन की अवस्था से राजनीतिक समाज की

१०. ४४।८ यजुर्वेद।   २. राजयति प्रकाशयति स राजा।

अवस्था (State of Political Society) में प्रविष्ट हुए और इस प्रकार उनमें राजा एवं राज्य का सर्वप्रथम निर्माण हुआ।

ऋग्वेद में इन्द्र को आर्यों का नेता बतलाया गया है।[1] अपने शत्रुओं से युद्ध करने एवं उन पर विजय प्राप्त करने के लिए आर्यों ने इन्द्र को अपना राजा बनाया था, ऐसा ऋग्वेद में वर्णित है।[2] ऋग्वेद में इस ओर भी संकेत हैं कि इन्द्र को राजा बनाने के पूर्व वैदिक आर्यों में राजा नहीं होता था; इन्द्र उनका सर्वप्रथम राजा था। इस प्रकार आर्य और अनार्य संघर्षों एवं युद्धों में विजय-प्राप्ति हेतु वैदिक आर्यों ने अपने समाज में राजपद का निर्माण किया था। वेदों में इन्द्र को जातियों (अनार्य जातियों) का विजेता (जेता जनानाम्), शत्रु के नगरों को ध्वंस करने वाला (पुरन्दर, पुरम्भेत्ता) आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। इन्द्र के पीछे-पीछे देवसेना गमन करती थी।[3] यजुर्वेद के नवें अध्याय के एक मंत्र में बतलाया गया है कि वैदिक आर्यों ने अपने शत्रु अनार्य लोगों, के दमन हेतु अपने समाज में सर्वप्रथम राजा का निर्माण किया था। उक्त मंत्र में यह तथ्य इस प्रकार वर्णित है—हे इन्द्र! तुझे राक्षसों के वध हेतु राजा नियुक्त करता हूँ।[4] शीघ्रकारी, तीक्ष्ण, तेजस्वी, भयंकर वृषभ के समान घमासान मचा देने वाला, वीरों को समरभूमि में विचलित कर देने वाला, शत्रु सेना में हाहाकार मचा देने वाला, नित्य पराक्रमशील, ऐश्वर्यशाली अकेला वीर राजा सैकड़ों सैनिकों पर विजय प्राप्त करता है।[5] एक अन्य स्थल पर अपनी रक्षा के निमित्त राजा की प्राप्ति हेतु इस प्रकार प्रार्थना की गयी है—मैं तुझे सुत्राता राजा होने के लिए स्वीकार करता हूँ।[6] बल के लिए, वीर्य वृद्धि के लिए तेरा अभिषेक करता हूँ।[7] महान् क्षात्रधर्म के लिए, शत्रुरहित होने के लिए देवगण तेरा अभिषेक करते हैं।[8]

इस प्रकार वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें इस ओर संकेत प्राप्त हैं कि आदि काल में सर्वप्रथम आर्य राजा का निर्माण युद्ध-संचालन हेतु हुआ था। संहिताओं में वर्णित इस सिद्धान्त का समर्थन उत्तर वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक आख्यान आता है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि का ज्वलन्त प्रमाण है कि

१. १।२९।१० ऋग्वेद २।२९।१० ऋग्वेद। २. ३।६४।८ ऋग्वेद।
३. ४०।१७ यजुर्वेद। ४. ३८।९ यजुर्वेद। १३।१ यजुर्वेद।
५. ३३।१७ यजुर्वेद। ६. ३२।१० यजुर्वेद। ७. ३।२० यजुर्वेद।
८. ४०।९ यजुर्वेद।

युद्ध के सुसंचालन हेतु ही सर्वप्रथम आर्य राजा का निर्माण हुआ था। यह आख्यान संक्षेप मे इस प्रकार है—देवासुर-संग्राम हो रहा था। इस संग्राम में असुर विजयी और सुर पराजय को प्राप्त हो रहे थे। ऐसा देखकर सुर इस निर्णय पर पहुँचे कि उनकी पराजय का एकमात्र कारण सुरों में राजा का न होना था। उनके शत्रु असुरों में राजा था। इसीलिए वह विजयी हो रहे थे। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि उन्हें भी अपना राजा बनाना चाहिए, और अपने इस निश्चय के अनुसार उन्होंने सोम को अपना सर्व-प्रथम राजा बनाया।[1] ऐतरेय ब्राह्मण के इस आख्यान से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक युग के आदि काल में एक ऐसा युग भी था जब कि वैदिक आर्यों में राज्य-व्यवस्था न थी, उनके समाज मे राजपद का निर्माण नही हुआ था। उस युग मे वैदिक आर्य सामाजिक जीवन की अवस्था में ही थे। उन्होंने उस समय तक राजनीतिक अवस्था में प्रवेश नहीं किया था। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर, अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के निमित्त, उन्हे अपने समाज मे राजपद के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई थी और उन्होने इस प्रकार राजा का अभाव अपनी पराजय का मूल कारण समझा था। इसी अभाव की पूर्ति हेतु उन्होंने अपने समाज में राजपद का निर्माण किया। इस प्रकार वैदिक आर्यो में राजनीतिक समाज (Political Society) अर्थात् राज्य का सर्व-प्रथम उदय हुआ जिसका एकमात्र उद्देश्य युद्ध में विजयी होना था।

वैदिक युग के आदि काल मे वैदिक आर्यों मे न तो राजपद ही था और न राज्य-व्यवस्था का ही उदय हुआ था, इस तथ्य की पुष्टि उपनिषद् साहित्य में भी की गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में राज्य-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इस वर्णन मे बतलाया गया है कि आदि काल मे (अग्रे) एकमात्र ब्रह्म ही था। अकेला होने के कारण ब्रह्म विभूति-युक्त कार्य करने में असमर्थ रहा। इसलिए उसने क्षत्र का निर्माण किया और इस प्रकार उसने देवों के राजा इन्द्र, जलचरों के राजा वरुण, रोगों के राजा मृत्यु, पशुओं के राजा रुद्र, वर्षा के राजा पर्जन्य, पितरों के राजा यम, प्रकाश के राजा ईशान आदि का सृजन किया।[2] बृहदारण्यकोपनिषद् के इस आख्यान से भी स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों ने, कुछ समय सामाजिक जीवन व्यतीत कर लेने के उपरान्त, राजपद के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु उन्होंने राजपद का निर्माण किया था।

१. १४।३।१ ऐतरेय ब्राह्मण। २. ११।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्।

महाभारत में भी इस तथ्य की पुष्टि के प्रमाण है। भीष्म ने एक ऐसे युग का युधिष्ठिर के समक्ष वर्णन किया है जिसमें मनुष्य सामाजिक जीवन में था परन्तु राजनीतिक जीवन में उसने प्रवेश नही किया था। उस युग का वर्णन करते हुए भीष्म ने स्पष्ट शब्दों में युधिष्ठिर को बतलाया था कि आदिकाल में न राजा ही था और न राज्य, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला। सभी लोग धर्माचरण द्वारा परस्पर रक्षा करते रहते थे।[1]

इस प्रकार वेद में वर्णित इस तथ्य की पुष्टि महाभारत में भी की गयी है।

युद्ध सिद्धान्त का लोप हो जाना

वैदिक युग के आरम्भ काल में आर्य राजा का एकमात्र कर्तव्य अपने अधीन जनसमुदाय के प्राण, उसकी सम्पत्ति, स्वतंत्रता और मान मर्यादा की रक्षा करना था। अपने इस कर्तव्य पालन हेतु आर्य राजा युद्ध करता था। इस प्रकार उस युग में आर्य राजा के निर्माण का एकमात्र हेतु युद्ध बतलाया गया है। परन्तु समय के साथ-साथ उनके समाज ने भी विकास किया। उनके समाज के विकास के साथ-साथ आर्यों के राजा के कर्तव्य-क्षेत्र में भी उसी क्रम से वृद्धि होती गयी। आर्य-राजा युद्ध-विजय का हेतुमात्र न रहा। उसके कर्तव्यों की परिधि में शनैः-शनैः वृद्धि होती गयी। उसे प्रजापरिपालन एवं प्रजारंजन सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन का भार अपने कन्धों पर धारण करना आवश्यक हो गया। इसलिए उत्तर वैदिक काल के उपरान्त राजा का स्वरूप वीर योद्धामात्र न रहा। वह वीर योद्धा बना रहा परन्तु उसके साथ-साथ वह प्रजापरिपालक और प्रजारंजक भी होने लगा। इसलिए लोक राजा के वीर योद्धा के स्वरूप मात्र पर ही मुग्ध न रहा। ऐसी परिस्थिति में लोक के लिए, राजा की उत्पत्ति का हेतु युद्ध है, इस सिद्धान्त में विशेष आकर्षण न रहा। यही कारण है कि वैदिक युग के पश्चात् ही आर्य-जनता ने राज्य की उत्पत्ति के युद्ध-सिद्धान्त को अनुपयोगी एवं अनावश्यक समझ कर सदैव के लिए उसका परित्याग कर दिया। परन्तु यह निर्विवाद एवं निश्चित् है कि वैदिक युग में राजा की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त विशेष उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण समझा गया और आर्य जनता के जीवन में इस सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

१. १४।५९ शान्तिपर्व, महाभारत।

समाज-अनुबन्धवाद

वैदिक संहिताएँ और समाज-अनुबन्धवाद

राजशास्त्र के इतिहास में समाज-अनुबन्धवाद सिद्धान्त का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। यूरोपीय राजशास्त्र में इस सिद्धान्त द्वारा नवीनता लाने का सफल प्रयास किया गया है। इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर यूरोपीय जनता ने अपने राजनीतिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न की और उसमें नवीन जीवन का संचार किया। इस सिद्धान्त को अपना-कर उन्होंने राज्य के स्वरूप, उसके संगठन, उसके कर्तव्यों, उसके क्षेत्राधिकार आदि में आमूल परिवर्तन किये हैं। भारत के लिए भी यह सिद्धान्त नवीन नहीं है। भारतीय आर्यों के प्राचीनतम साहित्य में इस सिद्धान्त के चिह्न पाये जाते हैं। वैदिक संहिताओं में इस सिद्धान्त की स्थापना के कतिपय प्रमाण उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में, अप्रत्यक्ष रूप में इस सिद्धान्त की पुष्टि के संकेत मिलते हैं। यजुर्वेद में इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु अपेक्षाकृत अधिक एवं स्पष्ट सामग्री प्राप्त है। संहिताओं में इस ओर संकेत किये गये हैं कि राजपद प्राप्ति के लिए भावी राजा का राज्याभिषेक होना चाहिए। यजुर्वेद में राज्याभिषेक सम्बन्धी विविध प्रकार के यज्ञों एवं उनके विशेष कृत्यों का उल्लेख संक्षेप में किया गया है। इन उल्लेखों में यत्र-तत्र कुछ ऐसे संकेत भी उपलब्ध हैं जो इस सिद्धान्त की स्थापना करते है। इन्हीं संकेतों के आधार पर राज्य की उत्पत्ति के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का यथासम्भव परिचय यहाँ दिया जायगा।

वैदिक संहिताओं में समाज-अनुबन्धवाद की विषयवस्तु

राजा एवं राज्य के निर्माण का हेतु युद्ध है, इस सिद्धान्त की स्थापना वैदिक संहि-ताओं में की गयी है, इस विषय का यथासम्भव वर्णन ऊपर किया जा चुका है। राज्य की उत्पत्ति के युद्ध-सिद्धान्त के अनुसार राजा वही व्यक्ति बनाया गया होगा जो स्वयं रणकुशल महान् योद्धा होगा और युद्ध-संचालन में कुशल समझा गया होगा। इससे यह स्पष्ट है कि राजपद पाने के समय भावी राजा में इन गुणों के धारण करने का नियम अनिवार्य समझा गया था। राजपद पा लेने के उपरान्त भी इन गुणों के अभाव में वह राजपद के अयोग्य एवं अनुपयुक्त समझा गया होगा और ऐसे अयोग्य एवं अनुपयुक्त राजा का राजपद से च्युत किया जाना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से भावी राजा को राजपद पर आसीन करते समय उस भावी राजा और उसके अधीन एवं संरक्षण में आने वाली जनता के मध्य कोई-न-कोई अनुबन्ध हो जाना आवश्यक था। इस की धाराओं का

पालन एवं निर्वाह भावी राजा और उसकी उक्त प्रजा दोनों के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य था।

ऋग्वेद में राजा को 'धृतव्रत' की उपाधि दी गयी है।[1] राजा की यह उपाधि भी इस तथ्य का पोषण करती है कि राजा की नियुक्ति उसके द्वारा कतिपय निश्चित व्रतों के पालन करने की प्रतिज्ञा के आधार पर हुई होगी, जिसे उसने जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों के समक्ष किया होगा। यह तथ्य भी, इस प्रकार, समाज अनुबन्धवाद का परोक्ष विधि से पोषक है। परन्तु इतने मात्र से निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता कि ऋग्वेद में राज्य की उत्पत्ति के समाज-अनुबन्धवाद सिद्धान्त की स्थापना की गयी है।

वैदिक राजनीतिक विचार-धारा के अनुसार राजपद-प्राप्ति हेतु भावी राजा का राज्याभिषेक होना अनिवार्य कृत्य निर्धारित किया गया है। यजुर्वेद के अनुसार वैदिक आर्यों के सर्वप्रथम राजा इन्द्र का राज्याभिषेक राजपद पाने के पूर्व हुआ था और जो सोम के द्वारा सम्पन्न किया गया था।[2] राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में भावी राजा के निमित्त प्रभुता (Sovereignty) के हस्तान्तरित करने के कृत्य का विशेष महत्त्व है। इस कृत्य के सम्पादन करते समय यह स्पष्ट घोषणा कर दी जाती थी कि जनता अमुक पुरुष को अपना राजा इस हेतु बनाने जा रही है कि वह (प्रस्तावित राजा) उसके योगक्षेम का गुरु भार अपने कन्धों पर धारण करेगा। वह इस जनता का राजा तभी तक रह सकेगा जब तक कि वह इस गुरु भार का वहन सम्यक् प्रकार करता रहेगा। जिस समय वह अपने इस भार के वहन करने में असमर्थ पाया जायगा, राजपद से भी पदच्युत समझा जायगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए यजुर्वेद में कुछ सामग्री उपलब्ध है। इस सामग्री का कुछ अंश इस प्रकार है—

यजुर्वेद के नवें अध्याय में राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों के प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तावित राजा को राजपद कतिपय विशेष प्रतिबन्धों के आधार पर दिया जा रहा है। इस प्रसंग में उपस्थित जनता के समक्ष पुरोहित प्रस्तावित राजा को सम्बोधित करता हुआ स्पष्ट घोषणा करता है—हे प्रस्तावित राजन् ! मैं, कृषि-विकास के निमित्त (कृष्यै), धन-ऐश्वर्य के निमित्त (रायै), सार्वजनिक कल्याण के निमित्त (क्षेमाय) और सार्वजनिक पोषण के निमित्त (पोष्याय) राजपद पर तेरा अभि-

१. ३।२७।८ ऋग्वेद। ८।२५।८ ऋग्वेद। २. ३२।६ यजुर्वेद।

षेक करता हूँ।[1] इस प्रकार यजुर्वेद के इस मंत्र में उपर्युक्त अनुबन्ध के आधार पर राजा की नियुक्ति करने का विधान किया गया है। राज्य-निर्माण की इस प्रणाली में प्रस्तावित राजा और उसके अधीन होनेवाली जनता के मध्य राजा-प्रजा का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक विशेष एवं निश्चित अनुबन्ध का आश्रय लिया गया है।

इसी प्रसंग में यजुर्वेद के एक अन्य स्थल पर यह घोषणा की गयी है कि अमुक निश्चित कर्तव्यों के पालन हेतु राजा की नियुक्ति की जा रही है। इस अवसर पर सोम ने पुरोहित का आसन ग्रहण किया है। वह उपस्थित जन समुदाय के समक्ष, प्रस्तावित राजा को सम्बोधित कर, इस प्रकार घोषणा कर रहे हैं—मैं इन्द्र तुल्य पराक्रम के निमित्त (इन्द्राय), शत्रु को रुलाने वाले और मित्र का कल्याण करने वाले बल के लिए (रुद्रवते), सूर्य के समान अदम्य तेज एवं ज्ञान के लिए (आदित्यवत्), श्येन पक्षी के समान शत्रु पर आक्रमण करने के निमित्त (श्येनाय), जनता के नेतृत्व के लिए (अग्नये) और सर्वांगिणी समृद्धि एवं सम्पन्नता के लिए (रायस्पोषाय) तुझे स्वीकार करता हूँ।[2] इस मंत्र में भी उपर्युक्त सिद्धान्त की स्थापना की गयी है।

यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में राजा की नियुक्ति का हेतु देते हुए इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—हे विद्वान् पुरुषो ! अमुक पुरुष के इस पुत्र को, अमुक स्त्री के पुत्र को, इस प्रजा (विश्) के निमित्त ज्येष्ठता के लिए, महान् गौरव के लिए, विशाल जन-प्रकाश के लिए, परम ऐश्वर्य सम्पन्न सुखभोग के लिए, शत्रुरहित इस पुरुष का अभिषेक कीजिए।[3] इसी प्रकार यजुर्वेद में प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों के प्रसंग में यत्र-तत्र घोषणाएँ की गयी है। इनमें एक मंत्र में इस प्रकार महत्त्वपूर्ण घोषणा की गयी है—

हे प्रस्तावित राजन् ! विद्या-प्रसार के लिए, परम ऐश्वर्य तथा महान् बल की प्राप्ति के लिए, सम्यक् रक्षणकार्य के लिए तू उत्तम नियमों के अनुसार ग्रहण किया गया है।[4] इसी प्रसंग में एक दूसरे मंत्र में यह घोषणा इस प्रकार है—तेज के लिए, ब्रह्मतेज के लिए, विद्या के लिए, वीर्यवृद्धि के लिए, अन्नादि की वृद्धि के लिए, बल की प्राप्ति के लिए प्रत्येक प्रकार की समृद्धि के लिए और यश के लिए तेरा राज्याभिषेक करता हूँ।[5]

१. २२।९ यजुर्वेद। २. ३२।६ यजुर्वेद। ३. ४०।९ यजुर्वेद।
४. ३३।२० यजुर्वेद। ५. ३।२० यजुर्वेद।

वैदिक संहिताओं में अनुबन्धवाद का स्वरूप

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में अनेक मंत्र हैं जिनमें समाज-अनुबन्धवाद की स्थापना की गयी है। परन्तु इन वैदिक मंत्रों में इस सिद्धान्त का जो स्वरूप दिया हुआ है उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक संहिताओं में इस सिद्धान्त का पूर्व रूप ही है। वह एकांगी एवं अपूर्ण है। इसमें कई तत्त्वों का अभाव है। संहिताओं के इन प्रसंगों में मनुष्य के प्राकृत जीवन की अवस्था (State of Nature) का उल्लेख नहीं है। मनुष्य ने किस प्रकार प्राकृत जीवन की अवस्था से सामाजिक जीवन की अवस्था (State of Society) में और तदुपरान्त सामाजिक जीवन की अवस्था से राजनीतिक जीवन की अवस्था (State of Political Society) में प्रवेश किया, इन महत्त्व-पूर्ण विषयों का लेशमात्र भी निरूपण नहीं किया गया। इस सिद्धान्त के दूसरे उल्लेख-नीय तत्त्व का अभाव यह है कि इसके अन्तर्गत अनुबन्ध अथवा प्रतिज्ञा प्रस्तावित राजा और जनता के मध्य होने की व्यवस्था नहीं है। इसमें प्रस्तावित राजा और पुरोहित के मध्य अनुबन्ध अथवा प्रतिज्ञा की व्यवस्था का आयोजन किया गया है। इतना अवश्य है कि इस प्रसंग में पुरोहित जनता का प्रतिनिधि स्वरूप है और इसी रूप में वह राज्या-भिषेक सम्बन्धी समस्त कृत्यों को सम्पन्न करता है। वह पुरोहित जनता की ओर से ही प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक करता है। वेद कालीन समाज-अनुबन्धवाद के इस स्वरूप में एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अभाव है। वह यह है कि प्रस्तावित राजा और जनता प्रत्यक्ष मुंह खोलकर अनुबन्ध के प्रतिवचन द्वारा पालन करने की प्रतिज्ञा करते हुए दिखलाई नहीं पड़ते। इस प्रकार समाज अनुबन्धवाद के इस स्वरूप में एक महत्त्वपूर्ण अभाव यह भी है कि इसमें अनुबन्ध एकांगी मात्र है। प्रस्तावित राजा और जनता अथवा इसके प्रतिनिधि दोनों पक्ष इस अनुबन्ध (Contract) को प्रतिज्ञाबद्ध होकर स्वीकार करते हों, स्पष्ट नहीं है। वैदिक संहिताओं में इस विषय का उल्लेख कहीं नहीं है जिसमें प्रस्तावित राजा भी इस विषय की घोषणा करता हुआ दिखलाया गया हो कि वह उक्त अनुबन्ध की धाराओं के पालन करने की प्रतिज्ञा कर रहा है। इस विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस अवसर पर प्रस्तावित राजा का मौन रहना ही उसकी स्वीकृति मानी जा सकती है। इसलिए वैदिक संहिताओं में वर्णित समाज-अनुबन्धवाद में भावी राजा की स्पष्ट स्वीकृति की व्यवस्था न होने के कारण यह सिद्धान्त अपूर्ण एवं एकांगी मात्र समझा जायगा।

वैदिक संहिता कालीन समाज-अनुबन्धवाद में एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अभाव

है और वह है इसका दार्शनिक पक्ष। इस अनुबन्धवाद में दार्शनिक तत्त्व का अभाव होने के कारण शास्त्रीय दृष्टि से इस सिद्धान्त का मूल्य एवं महत्त्व अति न्यून हो जाता है। इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु मनुष्य की वृत्तियों का उल्लेख लेशमात्र भी नहीं किया गया और न इस विषय के उल्लेख करने की ही आवश्यकता समझी गयी कि मनुष्य में वह कौन-सी वृत्ति अथवा वृत्तियाँ जाग्रत हो गयीं जिनके कारण उसे समाज-अनुबन्धवाद का आश्रय लेने और तदनुसार राजा एवं राज्य के निर्माण हेतु बाध्य होना पड़ा। इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व के अभाव के कारण भी संहिता-कालीन यह अनुबन्धवाद अपूर्ण एवं एकांगी ही रह गया और विद्वत्समाज के लिए अग्राह्य ही रहा है। समय-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य की विचार-धारा में भी विकास होना स्वाभाविक है। शनैः-शनैः मनुष्य ने इस सिद्धान्त के एकांगी एव अपूर्ण स्वरूप को समझा और अनुभव किया। उसने इन अभावों की पूर्ति हेतु प्रयास किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि महाभारत के अनुशासन पर्व के संकलन काल तक इन अभावों की पूर्ति यथासम्भव हो गयी। यही कारण है कि अनुशासन पर्व में भीष्म ने इस सिद्धान्त का जो स्वरूप दिया है उसमें इन सभी तत्त्वों का समावेश है। अतः अनुशासन पर्व में वर्णित समाज-अनुबन्धवाद वेदकालीन तत्सम्बन्धी सिद्धान्त की अपेक्षा लोक के लिए कहीं अधिक आकर्षक एवं ग्राह्य समझा गया है।

इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में भी कतिपय दार्शनिकों ने समाज-अनुबन्धवाद की स्थापना राज्य-निर्माण हेतु की है। इनके द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त भी वैदिक संहिताओं में वर्णित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से इस विषय में भिन्न है। इन दार्शनिकों ने अपने इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु जहाँ इस सिद्धान्त के अन्य तत्त्वों को स्थान दिया है वहीं इसके दार्शनिक तत्त्व को विशेष महत्त्व दिया है। इतना ही नहीं, वरन् उन्होंने इस सिद्धान्त के दार्शनिक तत्त्व की ओर अन्य तत्त्वों की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान दिया है और इस प्रकार उन्होंने इस तत्त्व को सर्वोपरि ठहरा दिया है।[1] इन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित समाज-अनुबन्धवाद रूपी प्रासाद का आधार यह तत्त्व है जिसका, वैदिक तत्सम्बन्धी सिद्धान्त में अभाव है। इस दृष्टि से वैदिक संहिताओं का अनुबन्धवाद एकांगी, अपूर्ण एवं आंशिक विकसित मात्र है।

१. Libiathan by Hobbes; Two Treatises of Government by Lock; The Social Contract by Rousseau.

परन्तु इतना होने पर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वैदिक संहिताओं में समाज-अनुबन्धवाद की स्थापना की गयी है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। यह सिद्धान्त अपने पूर्व रूप में ही क्यों न हो, अथवा भले ही उसका स्वरूप एकांगी, अपूर्ण एवं आंशिक विकास-प्राप्त ही रहा हो। इस दृष्टि से यह निर्विवाद है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों ने राज्य की उत्पत्ति के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की स्थापना की थी।

उत्तर वैदिक समाज-अनुबन्धवाद

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया लोक-ज्ञान में भी अभिवृद्धि एवं विकास हुआ है। लोक-ज्ञान के इस विकास के साथ ही वैदिक संहिता कालीन समाज-अनुबन्धवाद के स्वरूप तथा क्षेत्र में भी तदनुसार विकास हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में इस विकास के चिह्न प्रत्यक्ष दिखलाई देते है। संहिता कालीन समाज-अनुबन्धवाद में राजा की मूक स्वीकृति है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के रचना-काल में वह मूक स्वीकृति स्पष्ट घोषणा का रूप धारण कर लेती है। अपनी इस स्वीकृति को प्रस्तावित राजा शपथ लेकर व्यक्त करता था। इस शपथ की शब्दावली भी निर्धारित कर दी गयी। प्रस्तावित राजा के लिए राजपद-प्राप्ति के निमित्त राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित जन-समारोह के समक्ष इस शपथ का ग्रहण करना अनिवार्य कृत्य निर्धारित कर दिया गया। इस शपथ की शब्दावली (Text) का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—जिस रात्रि (समय) उत्पन्न हुआ हूँ और जिस रात्रि (समय) मेरा निधन होगा, इस अवधि में जो पुण्य मेरे द्वारा हुआ हो, मेरा स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरी सन्तति नष्ट हो जाये, यदि तेरा द्रोह करूँ।[1] इस शपथ के ग्रहण करने का तात्पर्य यह था कि इस प्रकार प्रतिज्ञा कर लेने के उपरान्त प्रस्तावित राजा निरंकुश एवं उच्छृंखल न हो सकेगा, वह अपने कर्त्तव्यों एवं तत्सम्बन्धी अनुबन्ध के प्रतिवचन का पालन विधिवत् करता रहेगा, और यदि वह अपने पद का दुरुपयोग कर अपने और अपनी प्रजा के मध्य किये गये अनुबन्ध के प्रतिवचन को भंग करेगा तो ऐसी परिस्थिति में उसको पदच्युत करने में किसी प्रकार की वैध अड़चन उपस्थित न होने पायेगी। परन्तु इस तथ्य से यह भी सिद्ध होता है कि प्रस्तावित राजा को राजपद कतिपय निश्चित प्रतिबन्धों के आधार पर पुरोहित द्वारा दिया जाता था।

१. ८।३६।१५ ऐतरेय ब्राह्मण।

इसलिए प्रस्तावित राजा और जनता के मध्य किये गये अनुबन्ध के सम्यक् पालन हेतु उसे यह शपथ ग्रहण करना अनिवार्य कृत्य निर्धारित किया गया था।

इस प्रकार उत्तर वैदिक अनुबन्धवाद सिद्धान्त के स्वरूप में वैदिक संहिता कालीन तत्सम्बन्धी सिद्धान्त के स्वरूप की अपेक्षा विकास हुआ। परन्तु उत्तर वैदिक युग में भी इस सिद्धान्त के दार्शनिक पक्ष की ओर उपेक्षा ही रही। न तो उसकी गहन विवेचना ही की गयी और न उसकी सम्यक्-स्थापना करने का ही प्रयास किया गया। इसीलिए उत्तर वैदिक अनुबन्धवाद में भी उन तत्त्वों का अभाव बना ही रहा जो कि उसके स्वरूप में संहिता काल में था। उत्तर वैदिक अनुबन्धवाद भी, इस प्रकार, एकांगी, आंशिक विकसित तथा अपूर्ण रूप में ही रहा। इस सिद्धान्त के मूल तत्त्वों का समावेश न हो सका। अतः इसके लिए समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक युग में राज्य की उत्पत्ति के समाज-अनुबन्धवाद सिद्धान्त की कल्पना एवं स्थापना की गयी थी। परन्तु उस युग में इस सिद्धान्त का स्वरूप आंशिक विकसित, एकांगी और अपूर्ण ही बना रहा।

दैवी सिद्धान्त

वैदिक संहिताओं में दैवी सिद्धान्त की विषय-वस्तु

भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है। ऋग्वेद का अधिक अंश प्रकृति की विविध शक्तियों की स्तुति, उनके विशेष गुणों एवं लक्षणों से विशेष सम्बन्धित है। इन्हीं प्रसंगों में यत्र-तत्र कतिपय ऐसे संकेत भी पाये जाते हैं जिनमें राजा देव समझ कर सम्बोधित किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में राजा देव माना गया है। परन्तु इतने मात्र से राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना नहीं मानी जा सकती और न उसके दैवी स्वरूप के लक्षणों की रूप-रेखा ही खींची जा सकती है। इस विषय में केवल यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के कुछ चिह्न मात्र पाये जाते है।

राजा की दैवी उत्पत्ति की जो विषय-वस्तु ऋग्वेद में प्राप्त है उससे कहीं अधिक एवं स्पष्ट सामग्री यजुर्वेद में उपलब्ध है। यजुर्वेद में राजा को 'दिवः सूनुः' अर्थात् 'द्युलोक के पुत्र' की उपाधि से विभूषित किया गया है। राजा के नियुक्ति सम्बन्धी कृत्यों का

१. १२, १३।२७।१ ऋग्वेद। ७।१।२ ऋग्वेद।

वर्णन करते हुए यजुर्वेद के एक मंत्र में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—हे राजन् ! तेरी नियुक्ति की जा रही है; दिव्यगुण-युक्त जनता (विशः) तुझे स्वीकार करे। मनुष्यों के उपयुक्त समृद्धियाँ तुझे प्राप्त हों; तू द्युलोक का पुत्र है; इस पृथिवी के सभी लोग और अरण्य के सभी पशु तेरे हैं।[1] इस प्रसंग में राजा 'दिवः सूनुः' अर्थात् द्युलोक का पुत्र बतलाया गया है। इस पद की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—'दिवः सूनुरसि द्युलोकस्य पुत्रोऽसि।' इस प्रकार, इस प्रसंग के अनुसार यजुर्वेदीय राजा इस लोक का प्राणी नहीं है। वह द्युलोकवासी देवपुत्र है। जनता इस द्युलोकवासी को इस लोक में, अपने समाज में सुशासन एवं सुव्यवस्था की स्थापना हेतु राजपद पर आसीन करती है। जनता का यह विश्वास है कि राजपद के लिए द्युलोकवासी ही उपयुक्त है, क्योंकि वह ऋतगामी होता है; वह अनृत से दूर रहता है। वह अनृतगामी प्राणियों के लिए ऋतमार्ग का प्रदर्शक होता है। इसी आधार पर यजुर्वेद में राजा के लिए 'दिवः सूनुः' की उपाधि दी गयी है। इस प्रकार यजुर्वेद के इस प्रसंग में राजा की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि की गयी है।

परन्तु इस तथ्य को स्वीकार कर लेने में कुछ आपत्ति अवश्य है। यह आपत्ति यजुर्वेद के इस मंत्र के विनियोग से सम्बन्धित है। आचार्य सायण, उव्वट, महीधर आदि ने इस मंत्र का विनियोग राजपरक न मानकर यज्ञपरक बतलाया है और इस प्रकार उन्होंने इस पद का सम्बन्ध यज्ञ-यूप से जोड़ा है।[2] इसलिए उनके मतानुसार "दिवः सूनुः" पद यज्ञ-यूप का विशेषण है। यदि इन आचार्यों का यह मत सत्य है तो यह प्रमाण राजा की दैवी उत्पत्ति के पक्ष में देना उचित न होगा। परन्तु कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं जिन्होंने इस मंत्र का विनियोग राजपरक किया है और इस प्रकार उन्होंने 'दिवः सूनुः' पद राजा का विशेषण माना है।[3] इन विद्वानों के इस मत के अनुसार राजा द्युलोक का पुत्र अथवा देव माना जायगा।

वैदिक परम्परा के अनुसार राजपद-प्राप्ति हेतु भावी राजा का राज्याभिषेक होना अनिवार्य है। अनभिषिक्त व्यक्ति राजपद का वैध अधिकारी नहीं होता। राज्याभिषेक के पूर्व उसे तत्सम्बन्धी यज्ञ का अनुष्ठान करना पड़ता था। इस यज्ञ को प्रारम्भ करने

१. ६।६ यजुर्वेद। २. देखिए सायणभाष्य, कृष्ण यजुर्वेद और उव्वट महीधर भाष्य, शुक्ल यजुर्वेद।

३. देखिए, वैदिक संस्थान, मथुरा द्वारा प्रकाशित शुक्ल यजुर्वेद।

के पूर्व उसे यज्ञ की दीक्षा लेनी होती थी। दीक्षित होने के लिए उसे सर्वप्रथम, यज्ञाग्नि को साक्षी मानकर, विशेष व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। इस प्रतिज्ञा के लिए यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के पंचम मंत्र द्वारा भावी राजा अग्नि देव की प्रार्थना देव बनने के लिए इस प्रकार करता था—हे व्रतपालक अग्नि देव! मैं व्रतधारी बनूंगा। मैं इसमें समर्थ होऊँ। मेरा व्रत सिद्ध हो। अब मैं अनृत स्वभाव (मनुष्य-स्वभाव) त्याग कर सत्य स्वभाव (देवत्व) को प्राप्त होता हूँ। यजुर्वेद के इस मंत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य उव्वट ने यह शब्दावली प्रकट की है—'अहं यजमानोऽस्मादनृतान्मनुष्यजन्मन उद्गत्य सत्यं देवताशरीरम् उपैमि प्राप्नोमि।' अर्थात् मैं, यजमान, इस अनृत मनुष्यस्वरूप से उठकर सत्यस्वभाव देवतत्व को प्राप्त होता हूँ।[1] इस प्रकार राज्याभिषेक हेतु दीक्षित हुआ यजमान, भावी राजा, मनुष्य से देव बन जाता है। इस मंत्र के अनुसार राजा देव होता है, वह मनुष्य से ऊपर उठकर देव बन जाता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि यजुर्वेद में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है।

राजा की दैवी उत्पत्ति के विषय में यजुर्वेद मे एक और प्रसंग है जिसमें प्रस्तावित राजा को देव बनाने की योजना का स्पष्ट उल्लेख है और जिसे लगभग सभी प्रमुख भाष्यकारों ने इसी रूप मे माना है। राजा देव होना चाहिए। उसे अनृत-स्वभाव मानव से भिन्न स्वभाव वाला पुरुष होना चाहिए उसमें दिव्य गुण होने चाहिए जिससे वह स्वयं ऋतगामी होकर अनृत-स्वभाव मानवों को अनृत से ऋत मार्ग पर ले चलने में समर्थ हो सके, और इस प्रकार वह उन्हें इस लोक में सुख और शान्तिमय जीवन बिताने की सुव्यवस्था कर सके और उन्हें इस योग्य बनाने में सफल हो सके कि वे अपने जीवन के परम एव चरम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति सुविधापूर्वक कर सकें। इसी लिए यजुर्वेद मे राजा की उत्पत्ति यज्ञ से कही गयी है। यज्ञ देवरूप है और प्राणियों को पवित्र करने वाला बतलाया गया है।

यज्ञ की वेदी पर बैठने के पूर्व अमेध्य-स्वभाव मनुष्य (भावी राजा) को मन, वचन और कर्म से अनृत-त्याग का व्रत धारण करना अनिवार्य बतलाया गया है। उपस्थित जन-समारोह के समक्ष अग्नि को साक्षी मानकर यजमान इस व्रत को धारण करने के लिए वचनबद्ध होता है और स्पष्ट घोषणा करता है कि वह इस व्रत का पालन

१. ५।१ यजुर्वेद।

कठोरता से करेगा। उसके अंग-प्रत्यंगों को यज्ञ द्वारा पवित्र किया जाता है और इस प्रकार उसका पुनर्जन्म देवरूप में हुआ है, ऐसा मान लिया जाता है।[१] इस प्रकार यजुर्वेदीय राजा मानवीय शरीर एवं मानवीय स्वभाव धारी पुरुष न रहकर देव-स्वरूप एवं देव-स्वभाव धारी हो जाता है।

यजुर्वेद के दसवें अध्याय में भी एक मंत्र है जिसमें यज्ञ द्वारा प्रस्तावित राजा को उत्पन्न करने के निमित्त प्रार्थना की गयी है, जिसमें उसे पंच देवयुक्त बना देने की प्रक्रिया का उल्लेख है। इस कृत्य के अनुसार पुरोहित यज्ञ की वेदी पर बैठे हुए यजमान (प्रस्तावित राजा) को ब्रह्मा, सविता, वरुण, इन्द्र और रुद्र बना देता है! अर्थात् पुरोहित प्रस्तावित राजा में इन देवों के गुणों का आधान कर देता है, जिन्हें धारण कर वह भी ब्रह्मा, सविता, वरुण, इन्द्र और रुद्र की सार मात्राओं के संयोग से एक विशिष्ट मूर्ति बन जाता है। इस मंत्र में पुरोहित यजमान को सम्बोधित कर स्पष्ट कहता है—'हे प्रस्तावित राजन्! तू ब्रह्मा है, तू सविता है, तू वरुण है, तू इन्द्र है और तू रुद्र है।'[२] इस प्रकार यजुर्वेदीय राजा पंच देवमय है; इन पाँच देवों की विभूतियों को धारण कर राजपद ग्रहण द्वारा वह लोक पर शासन करता है।

यजुर्वेद के इसी अध्याय के एक मंत्र में प्रस्तावित राजा को दस देवयुक्त बनाने की प्रक्रिया का विधान किया गया है। ये दस देव सविता, सरस्वती, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, अग्नि, सोम और विष्णु हैं।[३] पुरोहित यज्ञ की वेदी पर बैठे हुए प्रस्तावित राजा में इन दस देवों के देवांशों को ग्रहण कर आधान करता है और इस प्रकार उस एक पुरुष को इन दस देवों की विभूतियों का समुच्चय स्वरूप देता है। इस प्रकार यजुर्वेद के इस प्रसंग मे भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसी प्रसंग में स्पष्ट बतलाया गया है कि पुरोहित प्रस्तावित राजा को सोम अग्नि, सूर्य और इन्द्र के तेज से सम्पन्न कर राजपद के लिए उसका राज्याभिषेक करता है।[४] यजुर्वेद में भी ऋग्वेद के समान ही राजा इन्द्र, वरुण आदि देवरूप माना गया है।[५]

इस प्रकार यजुर्वेद में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसलिए यह मानना उचित ही होगा कि यजुर्वेद में राजा की दैवी उत्पत्ति की स्थापना की गयी है।

१. २।१९ यजुर्वेद। २. २८।१० यजुर्वेद। ३. ३०।१० यजुर्वेद।
४. २४।१० यजुर्वेद। ५. ३७।८ यजुर्वेद।

अथर्ववेद में भी इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। अथर्ववेद में बतलाया गया है कि राजा इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, सूर्य आदि देवों का अंश धारण करता है। इस प्रसंग में अथर्ववेद में बतलाया गया है कि राजा इन्द्र का अंश है, वह सोम का अंश है, वह वरुण का अंश है, मित्र का अंश है, यम का अंश है, पितरों का अंश है और वह सविता देव का अंश है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रसंग के अनुसार राजा का निर्माण इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, पितर, सविता आदि देवों के अंशों को संगृहीत कर किया गया है। उस में राजा का आसन विष्णुपद के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकरण में यह स्पष्ट व्यक्त किया गया है कि 'हे राजन्! तू विष्णु पद पर आसीन है।'[2] अथर्ववेद के इसी सूक्त में राजा विष्णुपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, दिशा, आशा, अन्न, यज्ञ, ओषधि, जल, कृषि और प्राण इन ग्यारह पदार्थों से उसकी उत्पत्ति कर क्रमशः उसको अग्नि, वायु, सूर्य, मन, सोम, ब्रह्म, वरुण, अन्न और पुरुष के तेज से तेजस्वी किया जाता है।[3] भावी राजा इन पदार्थों एवं देवों के अंशों को धारण कर विष्णुपद अर्थात् राजपद पर आसीन किया जाता है। इस प्रकार वह देवत्व को प्राप्त हो जाता है।

उत्तर-वैदिक दैवी सिद्धान्त

उत्तर वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र कतिपय ऐसे उपाख्यान पाये जाते हैं जिनमें राजा की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि की गयी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि के प्रमाण पाये जाते हैं। इस ब्राह्मण में सविस्तर वर्णन किया गया है कि इन्द्र ने प्रजापति के तेज को धारण कर राजपद प्राप्त किया। यह तथ्य एक आख्यान के रूप में दिया गया है जो इस प्रकार है—प्रजापति ने इन्द्र को देवों का राजा बनाने की इच्छा प्रकट की। राजपद पाने का अधिकारी होने के लिए इन्द्र ने प्रजापति से उसके तेज की प्राप्ति हेतु याचना की। इस तेज के प्राप्त कर लेने के उपरान्त इन्द्र देवराज बन गया, यद्यपि वह देवों में छोटा था।[4] प्रजापति के तेज की प्राप्ति के पूर्व वह साधारण देव था। इन्द्र और अन्य देवों में कोई विशेष अन्तर न था, परन्तु प्रजापति के तेज को धारण कर लेने से इन्द्र देवों का राजा बन गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित यह उपाख्यान इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है कि राजपद का वैध

१. ८ से १४।५।१० अथर्ववेद। २. २५।५।१० अथर्ववेद।
३. २५ से ३५।५।१० अथर्ववेद। ४. १, २।१०।२।२ तैत्तिरीय ब्राह्मण।

अधिकारी वही है जिसमें प्रजापति का तेज विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहना न्याय युक्त होगा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार राजपद प्राप्ति हेतु प्रजापति के विशिष्ट अंश अथवा तेज को धारण करना अनिवार्य है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का पोषण किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करने वाले आख्यान उपलब्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है कि राज्याभिषेक होने के पूर्व प्रस्तावित राजा साधारण पुरुष ही होता है। प्रस्तावित राजा और अन्य लोगों में राजपद पाने के पूर्व विशेष अन्तर नहीं होता। परन्तु राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त वही साधारण पुरुष देवत्व को प्राप्त हो जाता है। इस विषय की पुष्टि मे शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग मे इस प्रकार उल्लेख है—जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक होता है वह होता (Sacrificer) और विष्णु दोनों का रूप एक साथ ही धारण कर लेता है।[1] शतपथ ब्राह्मण में किये गये इस संकेत से भी, इस प्रकार, यही सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।

इतना ही नहीं, अपितु उत्तर वैदिक काल में इस सिद्धान्त में इसके दार्शनिक तत्त्व का भी समावेश किसी अंश तक हो गया था। इस दृष्टि से संहिताकालीन दैवी सिद्धान्त का उत्तर वैदिक काल मे किसी अंश तक विकास हुआ और वह उसमें उसके सैद्धान्तिक तत्व के समावेश हो जाने के कारण हुआ। उत्तर वैदिक काल में मनुष्य-स्वभाव का अध्ययन किया गया और इस अध्ययन के आधार पर मनुष्य-स्वभाव अनृतगामी ठहराया गया।[2] इसलिए उसे अनृत पथ की ओर गमन करने से रोककर सत्य पथ की ओर ले जाना उसका परम कल्याण करना समझा गया है। मानव-सृष्टि के साथ-साथ देव-सृष्टि भी मानी गयी है। देव-स्वभाव का भी विवेचनात्मक अध्ययन किया गया, फलस्वरूप देव-स्वभाव मनुष्य-स्वभाव से भिन्न निश्चित हुआ। देव-स्वभाव ऋतगामी सिद्ध किया गया।[3] इसलिए यह उचित समझा गया कि अनृत-स्वभाव मनुष्य को देव बनाने का सचेष्ट प्रयास करना चाहिए। देव स्वभाव धारण करने के लिए मनुष्य अनृत पथ का त्याग कर सत्य पथ को ग्रहण करे। परन्तु यह परिवर्तन उसके स्वभाव के विरुद्ध होगा और यह सामान्य रीति से असम्भव है। इसलिए मनुष्य को सत्य पथ-गामी बनाने के लिए उसके समाज

१. १७।१।२।३ शतपथ ब्राह्मण। २. ४।१।१।१ शतपथ ब्राह्मण।
३. ४।१।१।१ शतपथ ब्राह्मण।

में एक ऐसे सशक्त व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव की गयी जो स्वयं सत्य पथावलम्बी हो और अपने समाज के सदस्यों को भी सत्य पथावलम्बी होने के लिए बाध्य करने में समर्थ हो। इसी लिए मनुष्य को सत्य पथावलम्बी होने के लिए उसे बाध्य करने वाला ऐसा सशक्त पुरुष भी दैवी विभूतियों को धारण करने वाला होना चाहिए। राजा सम्पूर्ण मानव समाज को सत्य पथ पर ले जाने का उद्योग करता है। वह प्राणिमात्र को अनृत पथ त्यागने और सत्य पथ पर चलने के लिए बाध्य करता है। वह समाज में सुव्यवस्था की स्थापना करता है, दुष्टों का दमन कर साधु पुरुषों का परित्राण करता है। परन्तु यह कार्य उसी दशा में सम्भव है जब कि राजा दिव्य चरित्रवान् होगा। वह स्वयं मनुष्य से ऊँचा उठकर देवत्व प्राप्त किये हुए होगा। इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार राजा देव होना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण में इसी सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल मे राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के दार्शनिक पक्ष पर भी चिन्तन किया गया। इस चिन्तन के परिणाम-स्वरूप राजा के दैवी स्वरूप के सिद्धान्त में उसके दार्शनिक तत्त्व का भी समावेश किया गया। इस दार्शनिक तत्त्व को स्थान मिल जाने से उत्तर वैदिक दैवी सिद्धान्त का महत्व संहिता-कालीन दैवी सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया। दैवी सिद्धान्त मे इस तत्त्व के अभाव की जो पूर्ति शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल में हुई वह बड़े महत्त्व की है। इसने दैवी सिद्धान्त के स्वरूप को लोकप्रिय बना दिया।

वैदिक दैवी सिद्धान्त का स्वरूप

राजा के दैवी सिद्धान्त का जो उल्लेख वैदिक साहित्य में है उसकी अपनी विशेषता है। दैवी सिद्धान्त के इस स्वरूप का अन्यत्र प्राप्त होना असम्भव है। वैदिक आर्य राजा की उत्पत्ति पुरोहित द्वारा यज्ञ से की जाती थी। यज्ञ के अवसर पर यज्ञवेदी पर बैठे हुए प्रस्तावित राजा के लिए अनेक देवों का आह्वान किया जाता था[1] और तत्पश्चात् उन देवों में प्रत्येक देव की विशेष मात्रा अथवा देवांश की प्राप्ति हेतु याचना की जाती थी। वैदिक साहित्य मे ऐसे अनेक मंत्र हैं जो इस तथ्य को स्पष्ट प्रकट करते हैं कि पुरोहित अपने यजमान (भावी राजा) के निमित्त, यज्ञ की पवित्र वेदी पर बैठा हुआ, एवं इन देवों की शक्तियों अथवा देवांशों की प्राप्ति के निमित्त उस (भावी राजा) से यज्ञाग्नि में आहुतियाँ दिलाता हुआ देवों से याचना करता था।[2] उस युग की आर्य जनता का

१. ५।१० यजुर्वेद। २. ३९।१९ यजुर्वेद।

विश्वास था कि यज्ञ से देव प्रसन्न होते हैं और वे प्रसन्न होकर होता (Sacrificer) की कामना को सफल करते हैं। उनके विश्वास के अनुसार यज्ञ करने से मनुष्य पवित्र होता है और इस प्रकार यज्ञ द्वारा प्राप्त किये गये पुरुष मे देव अपनी दिव्य शक्तियों अथवा अपने देवांशों की स्थापना कर देते हैं। और इस प्रकार प्रस्तावित राजा, जो यज्ञ करने के पूर्व साधारण पुरुष होता है, यज्ञ के उपरान्त देव बन जाता है। इसी लिए वैदिक साहित्य मे राजा द्वारा किये जाने वाले विविध प्रकार के यज्ञों की प्रक्रिया एवं उनके कृत्यों का वर्णन दिया हुआ है। वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। यजुर्वेद वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड प्रधान ग्रंथ माना जाता है। इसमें कई ऐसे मंत्र है जिनमें इस तथ्य को स्पष्ट व्यक्त किया गया है। यजुर्वेद के नवें अध्याय के उन्तालीसवें मंत्र में यह याचना इस प्रकार की गयी है—'तुझ (प्रस्तावित राजा) को सविता देव आज्ञाएँ प्रचारित करने के लिए, अग्निदेव गृहपतियों की रक्षा के लिए, सोम वनस्पतियों की रक्षा के निमित्त, बृहस्पति वाणी के लिए, इन्द्र ज्येष्ठता के लिए, रुद्र पशुओं की रक्षा के निमित्त, मित्र सत्य की रक्षा हेतु और वरुण धर्मपतियों की रक्षा के निमित्त अपने देवाश प्रदान करें।' यजुर्वेद के इसी प्रसंग में अन्य स्थल पर यह स्पष्ट वर्णित है कि यज्ञ की पवित्र वेदी पर बैठा हुआ पुरोहित सोम, अग्नि, सूर्य और इन्द्र के तेज को उनसे याचना द्वारा प्राप्त कर होता (प्रस्तावित राजा) में उन विविध प्रकार के तेजो अथवा देवांशों की स्थापना करता है।[1]

इस प्रकार राजपद-प्राप्ति हेतु अमेध्य स्वभाव (अनृत स्वभाव) मेध्य स्वभाव (देव स्वभाव) में परिणत किया जाता था और जिसके लिए दिव्य गुणों अथवा देवांशों की आवश्यकता होती थी। प्रस्तावित राजा को इन देवांशों की प्राप्ति सविता, अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, वरुण, मित्र आदि देवों मे होती थी। इनके देवांशों को धारण कर वह विशिष्ट देव में परिणत हो जाता था। परन्तु इन देवांशों का धारण करना प्रत्येक पुरुष के लिए सुलभ न था। इनके धारण करने के लिए विशिष्ट आचरण का धारण करना आवश्यक था। इस विशिष्ट आचरण की प्राप्ति की आधारशिला तप और त्याग पर अवलम्बित मानी गयी थी। इस दृष्टि से वैदिक आर्य राजा देव तो अवश्य था परन्तु उसका देवत्व उसके पवित्र आचरण धारण करने पर निर्भर था। जिस मात्रा में उसका आचरण दिव्य एवं पवित्र होता था उसी मात्रा में वह देव समझा जाता था। इसी लिए

१. १७।१० यजुर्वेद।

वैदिक साहित्य में विविध श्रेणी के राज्यों की ओर संकेत मिलते हैं। ये राज्य राज्य-विस्तार मात्र की दृष्टि से छोटे अथवा बड़े नही समझे जाते थे वरन् इन राज्यों में निवास करने वाली जनता एवं उनके शासकों के दिव्य आचरण की मात्रा के आधार पर इस विषय का निर्णय किया जाता था। इसी दृष्टि से इन राज्यों के अधिपतियों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में परिगणित किया जाता था। वैदिक साहित्य में अधिपति के दिव्य आचरण के अनुसार ही इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि, सोम आदि की उपाधियाँ प्रदान करने की व्यवस्था दी गयी है। सायण, उव्वट, महीधर आदि आचार्यों का मत है कि जो अधि-पति वाजपेय यज्ञ द्वारा आत्मशुद्धि कर लेता था वह सम्राट् की उपाधि से विभूषित होने का अधिकारी हो जाता था। इसी प्रकार राजसूय यज्ञ के सम्पन्न कर लेने के उपरान्त राजा वरुण-पद पाने का अधिकारी समझा जाता था। पारमेष्ठ्य यज्ञ सम्पन्न कर लेने के उपरान्त राजा परमेष्ठी पद की प्राप्ति करता था।[1] परन्तु इन विशेष एवं महत्त्वपूर्ण यज्ञों के अनुष्ठान करने का अधिकारी प्रत्येक राजा न था। जिस राजा में जिस विशेष यज्ञ के अनुरूप दिव्य गुण पाये जायँ वही उस यज्ञ के अनुष्ठान करने का अधिकारी समझा गया है, अन्य नही। वह भी उतनी ही अवधि के लिए अपने इस विशिष्ट पद पर आसीन रहने का अधिकारी समझा गया है, जितनी अवधि में वह उक्त दिव्य गुणों को धारण किये रहेगा और उनके द्वारा अपने अधीन प्रजा के परिपालन एवं उन्हें मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर चलने से सम्बन्धित अपने कर्त्तव्य-पालन में सतत सलग्न रहेगा। प्राचीन भार-तीय साहित्य ऐसे उपाख्यानों से ओत-प्रोत है, जिनमें इस विषय का वर्णन है कि इन्द्र-पद की प्राप्ति हेतु उस युग में राजागण किस प्रकार लालायित रहते थे और उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने इन्द्र-पद की प्राप्ति हेतु अनेक अश्वमेध यज्ञ किये परन्तु वे उस पद की प्राप्ति न कर पाये, जिसका एक मात्र कारण यही बतलाया गया है कि उन राजाओं मे इन्द्रपद की प्राप्ति हेतु वाञ्छनीय दिव्य आचरण की निर्धारित मात्रा से निम्न कोटि का आचरण था। इसमें सदेह नही कि ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, राजा के इन विविध पदों के स्वरूप एवं महत्त्व में भी परिवर्त्तन होते गये। परन्तु इस विषय की जो घटनाएँ प्राचीन भारतीय साहित्य में आज हमें प्राप्त हैं उनका वर्णन जिस रूप मे हमारे समक्ष

१. ३७।८ यजुर्वेद। देखिए सायण भाष्य, काण्व शाखा यजुर्वेद; उव्वट-महीधर भाष्य, शुक्ल यजुर्वेद।

विद्यमान है उससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि वैदिक युग में राजपद विविध श्रेणी के होते थे और इन राजपदों का वर्गीकरण उनके निमित्त पृथक्-पृथक् दिव्य गुणों एवं दिव्य शक्तियों के निर्धारण से कर दिया गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त राजनीति के इतिहास में अपना विशेष स्थान ग्रहण किये हुए है। वह तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से तो भिन्न है ही, परन्तु वह वैदिक युग के पश्चात् अन्य युगों के भारतीय दैवी सिद्धान्तों से भी कुछ अंश में भिन्न है और अपनी निजी विशेषता रखता है।

वैदिक दैवी सिद्धान्त की विशेषता

भारतीय दैवी सिद्धान्त में दो तत्त्व विशेष रूप में पाये जाते हैं। वे हैं राजा की दिव्य उत्पत्ति और उसका दिव्य आचरण। वैदिक दैवी सिद्धान्त में ये दोनों तत्व पाये जाते हैं। वैदिक राजा की उत्पत्ति यज्ञ से मानी गयी है जो सामान्य राजाओं की उत्पत्ति से भिन्न है। वह अलौकिक और असाधारण है। यज्ञ द्वारा प्राप्त तेज से राजा उत्पन्न किया जाता है, इसलिए इस प्रक्रिया के अनुष्ठान के कारण वैदिक राजा की उत्पत्ति दिव्य है। इसी लिए वैदिक राजा की उत्पत्ति अलौकिक, असाधारण तथा दिव्य मानी गयी है। यज्ञ की पवित्र वेदी पर आसीन प्रस्तावित राजा पुरोहित द्वारा आहूत देवों के देवांशों को धारण करता है, और वह उन्हें इसलिए धारण करता है कि जिससे राजा के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन वह विधिवत् एवं सम्यक् प्रकार से कर सके। इन देवों से भावी राजा उनके केवल उन्ही देवांशों को प्राप्त कर धारण करता है जो उसके लिए राजा के निर्धारित कर्त्तव्यों के पालन हेतु आवश्यक है। इस प्रकार वैदिक राजा इन देवों के सभी देवांशों को धारण नही करता है अपितु उनके कतिपय गुणों अथवा अंशों मात्र को धारण करता है। इन गुणों के धारण से उसमें विशेष प्रकार के आचरण का निर्माण हो जाता है जो किसी एक देव में प्राप्त होना सम्भव नही है। विशेष प्रकार का उसका यह आचरण भी उसकी उत्पत्ति के समान ही दिव्य, अलौकिक एवं असाधारण होता है।

राजा की दैवी उत्पत्ति के स्वरूप का यह चित्र वैदिक युग में लगभग इसी रूप में रहा। परन्तु वैदिक युग के उपरान्त उसका यह स्वरूप न रहा, उसमें परिवर्तन के प्रत्यक्ष लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। राजा के दैवी स्वरूप का जो चित्र वैदिक युग के व्यतीत हो जाने के उपरान्त भारतीय राजनीति सम्बन्धी साहित्य में उपलब्ध है, उससे यह भिन्न है, यद्यपि लम्बे समय के व्यतीत होने पर भी उसके मूल तत्त्वों में अन्तर नहीं

आने पाया है। रामायण, महाभारत, मानवधर्मशास्त्र आदि ग्रंथों में राजा के दैवी स्वरूप की जो रूपरेखा खींची गयी है उसमें और वैदिक दैवी सिद्धान्त के स्वरूप में उल्लेखनीय अन्तर दिखलाई पड़ता है। इन ग्रन्थों में यज्ञ से राजा की जो उत्पत्ति कही गयी वह स्पष्ट नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट है कि राजा को स्वयं ईश्वर ने उत्पन्न किया है। इस प्रकार इन ग्रंथों में जिस युग की राजशास्त्र सम्बन्धी सामग्री का उल्लेख है उस युग की जनता का यह विश्वास हो गया था कि उसकी उत्पत्ति ईश्वर ने स्वयं देवांशों को संगृहीत कर की है। इसलिए इस विधि से उत्पन्न राजा भी दिव्य, अलौकिक तथा असाधारण है, यद्यपि दोनों की उत्पत्ति की प्रक्रिया में अन्तर है। उक्त युग के राजा के विषय में दूसरा उल्लेखनीय अन्तर यह है कि राजा के निर्माण हेतु समस्त देवों के अंशों की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी। देवों के प्रतिनिधि अथवा कतिपय महान् देवों के अंशों की ही आवश्यकता अनुभव की गयी। इन प्रतिनिधि अथवा महान् देवों की संख्या भी निर्धारित कर दी गयी जो आठ मात्र बतलायी गयी है। ये आठ देव इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, सूर्य, अग्नि, वायु और चन्द्र हैं।[1] इन आठ देवों की सारभूत मात्राओं को संगृहीत कर एक महती देवता के रूप में राजा का निर्माण और उसका स्वरूप स्थिर किया गया है। इस प्रकार इन ग्रंथों में वर्णित राजा आठ महती देवताओं के विशिष्ट अंशों को धारण करता है और वह महान् देवता मनुष्य रूप में (नररूपेण) इस भूतल पर विचरण करता है। इन आठ महान् देवों के विशिष्ट अंशों को वह इसलिए धारण करता है कि उसका आचरण तदनुकूल बन जाय, जिससे वह अपने अधीन प्रजा का परिपालन एवं रंजन विधिवत् करने में समर्थ हो सके।

वैदिक आर्य राजा के कर्त्तव्यों की अपेक्षा उर्युक्त युग के राजा के कर्त्तव्यों का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत हो गया और उसके समक्ष शासन सम्बन्धी समस्याएँ वैदिक युग की तत्सम्बन्धी समस्याओं की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गयी और उनमें अपेक्षाकृत जटिलता की मात्राओं में कहीं अधिक वृद्धि हो गयी। अतः इस युग के राजा के स्वरूप में यह अन्तर आना स्वाभाविक ही था। इसी लिए इस युग में राजपद विशेष रूप में सम्मानित एवं मर्यादा पूर्ण हो गया। यही कारण है कि मनु ने बालक राजा के प्रति भी सत्कार एवं सम्मान की ओर लेश मात्र भी उपेक्षा को असह्य माना है। उनके मतानुसार राजा महान् देवता है जो मनुष्य रूप में पृथ्वीतल पर विचरण करता है।[2]

१. ४।७ मानवधर्मशास्त्र। २. ८।७ मानवधर्मशास्त्र।

आवश्यकतानुसार वह इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि आठ देवों का पृथक्-पृथक् रूप धारण किया करता है। इस प्रकार इस युग के दैवी राजा के स्वरूप, उसके अधिकार और कर्त्तव्य क्षेत्र आदि में अन्तर है।

इसके उपरान्त के भारतीय साहित्य, अभिलेखों एवं मुद्राओं में राजा का जो स्वरूप उपलब्ध है उसके गम्भीर अध्ययन से ज्ञात होता है कि रामायण, महाभारत, मानव-धर्मशास्त्र आदि ग्रंथों में वर्णित राजा के उपर्युक्त दैवी स्वरूप में विशेष परिवर्तन होता चला गया है। उसमें विशेषता आती गयी है। इस युग में राजा का स्वरूप सर्वदेवमय बन गया। इस युग के दैवी राजा में सौम्य, क्रूर, उदार तथा अनुदार सभी देवता निवास करने लगे। पुराणों में राजा का जो स्वरूप वर्णित है वह यही स्वरूप है। विष्णु-पुराण में स्पष्ट बतलाया गया है कि राजा केवल आठ महान् देवों की सारभूत मात्राओं अथवा विशिष्ट अंशों मात्र को ही धारण नहीं करता; वरन् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, सूर्य, वरुण, धाता, पूषा, चन्द्र तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी जितने देवता शाप और कृपा करने की सामर्थ्य रखते है वे सभी राजा के शरीर में वास करते हैं। राजा सर्वदेवमय होता है (सर्वदेवमयो राजा)।[1] परन्तु वैदिक दैवी राजा में यह विशेषता नहीं है। उसमें न तो सभी देव निवास करते हैं और न केवल आठ महान् देवों के विशिष्ट अंश ही। वैदिक दैवी राजा सर्वदेवमय नहीं है। इस प्रकार वैदिक दैवी राजा के स्वरूप और पुराणों के दैवी राजा के स्वरूप में बहुत बड़ा अन्तर है।

राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की झलक गुप्त कालीन अभिलेखों एवं मुद्राओं में भी मिलती है। उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में राजा साक्षात् भगवान् का अवतार बन गया था। वह महती देवता और सर्वदेवमय से भी आगे बढ़ गया और इस प्रकार वह साक्षात् भगवान् का रूप समझ लिया गया। वह अचिंत्यपुरुष, लोक-धाम (लोक का धारण करने वाला) और प्रलय का हेतु समझा जाने लगा।[2] इस प्रकार इस युग में राजपद वैदिक दैवी राजा के पद से कहीं अधिक विशेषता पूर्ण हो गया। इतना होने पर भी राजा के आचरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा। यदि रामगुप्त की ऐतिहासिकता में सत्यता है तो इस घटना के आधार पर लोकप्रिय राजा होने के लिए दैवी राजा में लोकप्रिय चरित्र होना चाहिए, इस तथ्य की प्रत्यक्ष पुष्टि हो

१. २१।१३।१ विष्णुपुराण। २. समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तम्भ अभिलेख। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की स्वर्णमुद्राएँ।

जाती है। रामगुप्त कायर था इसलिए वह राजपद के योग्य न था। उसके आचरण में राजोचित वांछनीय गुणों एवं योग्यताओं का अभाव था, अतः वह राजपद से च्युत किया गया। इतना ही नहीं, अपितु उसका वध भी न्यायोचित समझा गया। प्रजा ने अपने इस कायर राजा के वध करने वाले पुरुष को केवल इसलिए कि उसके आचरण में राजोचित गुण एवं योग्यताओं को स्थान मिला है, सहर्ष अपना राजा स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते है कि वैदिक राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का जो स्वरूप वैदिक साहित्य में दिया गया है उसमें समय के प्रवाह के साथ-साथ शनैः-शनैः आवश्यकतानुसार विकास होता रहा, राजा महती देवता, सर्वदेवमय एवं अचिन्त्य पुरुष तथा लोक-धाम और प्रलय-हेतु के रूप में जनता के समक्ष उपस्थित हुआ। जनता को समय की मांग के अनुसार राजा के इन स्वरूपों की आवश्यकता पड़ती गयी। भारत पर बाहरी जातियों के समय-समय पर जो आक्रमण हुए हैं और इन आक्रमणकारियों ने नृशसता एवं क्रूरता प्रदर्शन करने का जो सक्रिय प्रयास किया है, उसकी रोक-थाम के लिए राजा के इन स्वरूपों की समय-समय पर आवश्यकता होती रही। इसीलिए राजा के स्वरूप मे तदनुसार इस क्रम से विकास होता गया। गुप्त काल के समाप्त होने के कुछ ही दिनों उपरान्त भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी और भारत म विदेशी राजसत्ता का श्रीगणेश हुआ। भारत शनैः-शनैः दासताग्रस्त हो गया और इस दासता के युग मे भारतीय राजशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों के विकास का कोई अवसर ही न रहा। इसलिए गुप्त काल के उपरान्त भारतीय जनता अपने राजनीतिक सिद्धान्तों के विकास मे उदासीन हो गयी। इस प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब कि भारतीय जनता अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को भी भुला बैठी।

राजा की दैवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त गुप्त काल में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। इस युग मे राजा मे निरकुशता की प्रवृत्ति ने प्रवेश करना आरम्भ कर दिया था। इसलिए राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के इस स्वरूप मे भी रोक-थाम की आवश्यकता कुछ आचार्यो ने अनुभव की और इसलिए उन्होंने इस सिद्धान्त के इस स्वरूप में सशोधन करने का प्रयास करना उचित समझा। इस श्रेणी के आचार्यों में शुक्रनीति के प्रणेता शुक्र उल्लेखनीय हैं। राजा में निरंकुशता की जो प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी उसकी रोक-थाम के लिए उन्होंने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि सभी राजा देव नहीं माने जा सकते। केवल वही राजा देव पद के अधिकारी हैं जो देवगुण-सम्पन्न हैं अर्थात् जिनके आचरण

दिव्य गुणयुक्त हैं। इसीलिए उन्होंने केवल उसी राजा को देव माना है जिसमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है।[1]

इस प्रकार वैदिक राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में क्रमिक विकास हुआ और भारत में भारतीय राजसत्ता के समाप्त होते ही इस सिद्धान्त का भी अन्त हो गया।

वैदिक दैवी सिद्धान्त तथा पाश्चात्य दैवी सिद्धान्त

वैदिक दैवी सिद्धान्त और पाश्चात्य देशों के तत्त्वदर्शियों द्वारा स्थापित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त में मूलतः अन्तर है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि बतलाया गया है। इस राजा का सम्पूर्ण दायित्व ईश्वर पर ही है, अर्थात् वह अपने उचित अथवा अनुचित सभी कार्यों के लिए ईश्वर द्वारा ही पुरस्कृत अथवा दण्डित किया जा सकता है। वह अपने कार्यों के लिए अपनी प्रजा के समक्ष किसी अंश में भी उत्तरदायी नहीं समझा जा सकता। इसलिए प्रजापरिपालन तथा प्रजारंजन सम्बन्धी उसके कर्त्तव्य लोकदृष्टि से कुछ भी नहीं हैं। इस राजा के अधीन प्रजा अपने कल्याण हेतु अपने इस राजा को कार्य करने के लिए वैध रूप से किसी प्रकार भी बाध्य नहीं कर सकती। प्रजा के लिए इस राजा की आज्ञाएँ, चाहे वे उचित हों अथवा अनुचित, ईश्वर की आज्ञाएँ हैं। प्रजा द्वारा राजा की आज्ञाओं का उल्लंघन किया जाना ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने के समान ही माना गया है। इसलिए इस विचार-धारा के अनुयायियों के अनुसार राजा द्वारा दी गयी उचित अथवा अनुचित सभी प्रकार की आज्ञाओं का प्रजा द्वारा अक्षरशः पालन किया जाना प्रजा का परम कर्त्तव्य बतलाया गया है। दैववश यदि किसी राज्य में बुरा राजा है तो इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने स्वयं उस राज्य की प्रजा के पाप कर्मों के परिणामस्वरूप उसके लिए इस राजा को भेजा है। ईश्वर ने उन लोगों को उनके पूर्वकृत पापों के अनुसार दण्ड देने के लिए इस प्रकार का राजा जान-बूझ कर उन्हें दिया है। राजा के विरुद्ध प्रजा के किसी प्रकार के भी अधिकार नहीं होते, जो कुछ भी अधिकार प्रजा भोगती है वह राजा द्वारा प्रदान किया हुआ उसकी कृपा मात्र है। पाश्चात्य दैवी सिद्धान्त के इस स्वरूप में अटूट निष्ठा रखने वाले राजाओं में इंग्लैण्ड देश के राजा जेम्स प्रथम, चार्ल्स प्रथम और जेम्स द्वितीय तथा फ्रांस का राजा लुई चतुर्दश मुख्य हैं। इन राजाओं ने इस सिद्धान्त को

१. ३५।१ शुक्रनीति।

कार्यान्वित करने का भरसक प्रयत्न किया और इसी कारण अपने अधीन प्रजा से उनका संघर्ष होता रहा।

परन्तु वैदिक दैवी सिद्धान्त इस पाश्चात्य विचार-धारा से नितान्त भिन्न है। वैदिक विचार-धारा के अनुसार राजा देव अवश्य माना गया है, परन्तु उसका देवत्व उसके पवित्र एवं दिव्य आचरण पर आश्रित है। राजा देवों की विभूतियों अर्थात् देवांशों को धारण करता है। इन विभूतियों की प्राप्ति एवं उनका धारण करना सर्वसाधारण के लिए सम्भव नही है। राजा उग्र तपस्या एवं कठोर आत्मसंयम का आश्रय लेकर इन विभूतियां अथवा देवांशो को प्राप्त करता है और फिर प्रजा के कल्याण सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य-पालन मे उनका उपयोग करता है। इस प्रकार वैदिक दैवी राजा अपनी प्रजा के लिए आदर्श चरित्र की साक्षात् मूर्ति होता है। राजा का यह दिव्य आचरण उसके अधीन प्रजा को अपने दैनिक जीवन में सुपथगामी बनाने के निमित्त निरन्तर प्रेरित करता रहता है।

इसके अतिरिक्त वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार अपने कार्यों के लिए राजा का दायित्व ईश्वर अथवा किसी विशेष देव पर नहीं है। वह अपने कार्यों के लिए अपने राज्य की जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रजा के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण राजा द्वारा नही किया जाता अपितु उन नियमों अथवा विधियों द्वारा किया जाता है जिनके निर्माण मे राजा का अधिकार लेश मात्र भी नहीं है। राजा इन नियमों अथवा विधियों का रक्षक मात्र होता है। उसे स्वयं इन नियमों अथवा विधियों के अन्तर्गत ही अपने अधिकारों का भोग करना एवं कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। वह अपने इस कर्त्तव्यक्षेत्र की सीमा के अतिक्रमण करने का वैध अधिकारी नहीं है। साथ ही उसे जो अधिकार जिस रूप में भोग करने के लिए नियमानुसार प्रदान किये गये हैं, वह उसी मात्रा एवं उसी रूप मे उनके भोगने का वैध अधिकारी है। अपने अधीन प्रजा का परिपालन एवं उसे सुपथ पर ले चलना उसका मुख्य कर्तव्य है। वैदिक दैवी सिद्धान्त मे राजा इस भूतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है।

इस प्रकार वैदिक दैवी सिद्धान्त विशिष्ट एवं अद्वितीय तथा महत्त्वपूर्ण है और यह राजशास्त्र के इतिहास में विशेष स्थान ग्रहण किये हुए है।

अध्याय ४

राज्य का स्वरूप

राज्य का सप्तांग स्वरूप

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के आचार्यों ने राज्य का स्वरूप सप्तांग, सप्तात्मक अथवा सप्तप्रकृतियुक्त निर्धारित किया है। उनका मत है कि राज्य के सात अंग अथवा राज्य की सात प्रकृतियां होती हैं। इन्ही सात अंगों अथवा प्रकृतियों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। महाभारत में राज्य के यह सात अंग आत्मा (राजा), अमात्य, कोश, दण्ड (सेना), जनपद और पुर बतलाये गये हैं।[1] धर्मशास्त्रों में भी राज्य का स्वरूप यही माना गया है। मनु ने मानवधर्मशास्त्र में राज्य का स्वरूप सप्तात्मक वर्णन किया है। उन्होने अपने इस सप्तात्मक राज्य को सप्तप्रकृतियुक्त माना है। उनके द्वारा वर्णित राज्य की सात प्रकृतियाँ स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और सुहृद् हैं।[2] राजनीति साहित्य में आचार्य कौटिल्य-प्रणीत अर्थशास्त्र अपनी श्रेणी के साहित्य में प्रतिनिधि ग्रंथ है। उन्होंने भी अपने इस ग्रंथ में राज्य के सप्तांग स्वरूप को स्वीकार किया है। आचार्य कौटिल्य ने भी राज्य के इन सात अंगों को राज्य की सात प्रकृतियों की संज्ञा दी है, जिन्हें उन्होंने स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र के नाम से सम्बोधित किया है।[3] शुक्रनीति के प्रणेता ने भी राज्य का यही स्वरूप स्वीकार किया है। उनके मतानुसार भी राज्य के ये सात अंग स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल है।[4] इसी प्रकार कामन्दक, सोमदेव सूरि आदि आचार्यों ने भी राज्य का वर्णन सप्तांग रूप में ही किया है।

इस प्रकार वैदिक युग के उपरान्त प्राचीन भारत में राजशास्त्र के जो प्रमुख विचारक हुए हैं, लगभग सभी ने, राज्य के सप्तांग स्वरूप को स्वीकार किया है। उन्होंने इन अंगों की उत्तमता एवं विशुद्धता पर ही राज्य की उत्तमता मानी है। उनका मत

१. ६५।६९ अनुशासन पर्व, महाभारत। २. २९४।१ मानवधर्मशास्त्र।
३. १।१।६ अर्थशास्त्र। ४. ६१।१ शुक्रनीति।

है कि राज्य के इन अंगों में यदि एक अंग भी विकार-ग्रस्त हो गया तो सम्पूर्ण राज्य ही विकृत हो जायगा। इसलिए राज्य को स्वस्थ एवं विकार रहित रखने के लिए यह परमावश्यक है कि उसके ये सम्पूर्ण अंग स्वस्थ एवं विकार रहित रहें। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-साहित्य में इन अंगों को इनके स्वाभाविक रूप में बनाये रखने के लिए अनेक उपायों एवं साधनों की व्यवस्था की गयी है।

राज्य के सप्तात्मक अथवा सप्तांग स्वरूप की कल्पना सर्वप्रथम कब और किसने की, यह अभी समस्या ही बनी हुई है। परन्तु इतना निश्चित एवं निर्विवाद है कि राज्य के सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप की जो रूपरेखा प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्तर्गत आज हमारे समक्ष प्रस्तुत है और जिसकी ओर ऊपर संकेत किया गया है, वह वैदिक युग की देन लेशमात्र भी नही है। यह कल्पना वैदिक युग की समाप्ति के उपरान्त किसी समय किसी आचार्य के मस्तिष्क की उपज है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का अध्ययन कर लेने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य के किसी भी अंग में लेशमात्र भी ऐसी सामग्री नही है, जिससे इस विषय का आभास भी होता हो कि वैदिक युग के आर्यों ने कभी भी सप्तांग अथवा सप्तात्मक राज्य की कल्पना की थी। इसलिए यह ध्रुव सत्य है कि वैदिक युग में राज्य के सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप की कल्पना नही की गयी थी। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक साहित्य में राजा, मंत्री, राष्ट्र, सेना, पुर अथवा दुर्ग का उल्लेख है। परन्तु सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे कहीं भी इस विषय का उल्लेख नही है कि ये वैदिक सप्तांग अथवा सप्तात्मक राज्य के अंग हैं। इसके अतिरिक्त सुहृद् और कोश अंगों का भी अभाव है। इसलिए यह कहना कि वैदिक युग में प्राचीन भारतीय राज्य के सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप के अध्ययन का आरम्भ हो गया था, भारी भूल होगी।

राज्य का आवयविक स्वरूप

राज्य के आवयविक स्वरूप (Organic Nature of State) के चिह्न वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में सृष्टि-रचना का वर्णन है। इस वर्णन में सृष्टि-रचना-क्रम का भी उल्लेख है। इस सृष्टि-रचना क्रम में आवयविक सिद्धान्त को अपनाया गया है। सृष्टि-रचना के पूर्व सम्पूर्ण जगत का समष्टिरूप विराट् पुरुष माना गया है। इसी विराट् पुरुष के विभिन्न अवयवों से सृष्टि के विविध रूपों के जन्म एवं उनके विकास की कल्पना की गयी है। विराट्

पुरुष में असंख्य सिर, असंख्य नेत्र, असंख्य बाहु, असंख्य पैरों की कल्पना की गयी है। उसी विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[1] इसी प्रसंग में समाज की उत्पत्ति का भी उल्लेख है। समाज की उत्पत्ति में भी इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है। समाज की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद में इस प्रकार का वर्णन है—विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य, जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[2] इस प्रकार ऋग्वेदीय युग के समाज का निर्माण एवं विकास आवयविक सिद्धान्त के आधार पर माना गया है। परन्तु ऋग्वेद में एक भी ऐसा पुष्ट प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर राज्य की उत्पत्ति, उसके संगठन, उसके विकास आदि में आवयविक सिद्धान्त का आश्रय लिया गया हो, या ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सके।

यजुर्वेद में वर्णित सृष्टि-रचना-क्रम में भी इस सिद्धान्त का आश्रय ऋग्वेद के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार ही लिया गया है। उक्त प्रसंग में यजुर्वेद में ऋग्वेद-वर्णित भावों की ही पुनरावृत्ति की गयी है। यजुर्वेद के इस प्रसंग में भी विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति उसी प्रकार बतलायी गयी है।[3] समाज के निर्माण में भी यजुर्वेद में ऋग्वेद की भाँति ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति विराट् पुरुष के मुख, बाहु, जंघा और पाद से क्रमशः बतलायी गयी है।[4]

समाज निर्माण के इस प्रसंग के अतिरिक्त यजुर्वेद में कतिपय ऐसे संकेत भी प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यजुर्वेदीय ऋषियों ने राज्य के तत्कालीन आवयविक सिद्धान्त का आश्रय अपने राजनीतिक जीवन में भी ग्रहण किया था। यजुर्वेद के एक प्रसंग में राज्य की कल्पना पुरुष रूप में की गयी है। वहां पर इस प्रसंग में राज्य की कल्पना पुरुष रूप में करते हुए उसके अंग-प्रत्यंगों का वर्णन राज्य के कतिपय अंगों के रूप में किया गया है। यजुर्वेद के इस प्रसंग में इस प्रकार वर्णन है—

मेरी (विराट् पुरुष की) पीठ भूभाग (राष्ट्र) है; मेरा उदर, मेरी ग्रीवा, मेरी कटि और मेरी जंघा, घुटने, गट्टे यह सभी मेरी प्रजा (विश्) हैं।[5] मेरा सिर कोश (श्री) है; मेरा मुख, मेरे केश और मेरी दाढ़ी-मूंछ मेरी दीप्ति अथवा प्रताप हैं। मेरा अमर

१. १३।९०।१० ऋग्वेद। २. १२।९०।१० ऋग्वेद। ३. १२।३१ यजुर्वेद। ४. ११।३१ यजुर्वेद। ५. ५।२० यजुर्वेद।

प्राण राजा है।[१] यजुर्वेद में आये हुए ये प्रसंग सिद्ध करते हैं कि यजुर्वेद में राज्य के आवयविक स्वरूप की कल्पना की गयी है। परन्तु यजुर्वेदीय युग में राज्य के आवयविक स्वरूप की कैसी रूपरेखा रही होगी; इन संकेतों मात्र के द्वारा इस विषय का स्पष्ट होना असम्भव है। न यजुर्वेद में और न वैदिक साहित्य में अन्यत्र ही इस प्रकार की समुचित सामग्री उपलब्ध है जिसका आश्रय लेकर राज्य के इस आवयविक स्वरूप की रूपरेखा निर्धारित की जा सके। इस विषय में इतना मात्र निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यजुर्वेदीय आर्य राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धान्त से परिचित रहे होंगे। यही बात अन्य दो संहिताओं (साम और अथर्व) पर भी लागू होती है। इन संहिताओं में भी राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए इस सामग्री से अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसलिए इस विषय में इतना मात्र ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताकालिक आर्यगण राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धान्त से परिचित थे।

राज्य के आवयविक स्वरूप का यह सिद्धान्त संहिता युग के उपरान्त बहुत समय तक लगभग इसी रूप में प्रचलित रहा। उत्तर वैदिक काल में इस सिद्धान्त में कितना और किस रूप में विकास हुआ, इस विषय का बोध कराने के लिए वैदिक साहित्य में प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। इसलिए उस युग में इस सिद्धान्त में कितना और किस दिशा में विकास हुआ इस विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता। परन्तु यह निर्विवाद है कि उत्तर वैदिक काल में राज्य के सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप के सिद्धान्त की स्थापना किसी रूप में भी नहीं हुई थी। राज्य के कतिपय अंगों का उल्लेख वैदिक साहित्य में अवश्य मिलता है, परन्तु इस उल्लेख से किसी प्रकार भी यह सिद्ध नहीं होता कि इन अंगों की कल्पना वैदिक आर्यों ने राज्य के अंगों के रूप में अथवा सप्तांग राज्य वा सप्तात्मक राज्य के अंगों के रूप में की थी। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप की स्थापना उत्तर वैदिक काल के उपरान्त किसी समय की गयी होगी।

वैदिक आवयविक सिद्धान्त और पाश्चात्य आवयविक सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में राज्य के आवयविक स्वरूप के सिद्धान्त की जो रूपरेखा वैदिक युग के उपरान्त भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं द्वारा निर्धारित की

६. ८।२० यजुर्वेद।

गयी है और जिसके अनुसार सप्तांग अथवा सप्तात्मक राज्य की कल्पना की गयी है, उस सिद्धान्त से वैदिक आवयविक सिद्धान्त भिन्न है, यह तथ्य ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि वैदिक आवयविक सिद्धान्त तत्सम्बन्धी पाश्चात्य सिद्धान्त से भी नितान्त भिन्न है। कतिपय पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों—कार्ल जकरिया (Karl Zacharia), कार्ल वाल्गफ (Karl Volgraff), कांस्टेंटिन् फ्रैंज (Constantin Franz), जे० के० ब्लंशी (J. K. Balantschli), हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) आदि—द्वारा राज्य के आवयविक स्वरूप की जो रूपरेखा खींची गयी है और उसके क्रमिक विकास का वर्णन जिसमें किया गया है, उसमें और तत्सम्बन्धी वैदिक सिद्धान्त के स्वरूप एवं उसके विकास में समता नहीं की जा सकती। इन दोनों में मूलतः अन्तर है। वैदिक आवयविक सिद्धान्त में एक का अनेक रूप में प्रकट होना (एकोऽहं बहु स्याम्) और पुनः अनेक का एक में लय हो जाना, इस सिद्धान्त को अपनाया गया है। परन्तु पाश्चात्य राजनीति के इन चिन्तकों ने राज्य को जीवधारी रचना (Liwing Organism) माना है। राज्य के विभिन्न विभाग (Departments) इस जीवधारी रचना के कोषण (Cells) हैं जो राज्य के विकास के साथ-साथ विकसित होते रहते हैं। वेदों में राज्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष के कतिपय अंगों अथवा अवयवों से बतलायी गयी है। उसके अवशेष अंगों से राज्य के अतिरिक्त जगत के अन्य प्राणियों एवं पदार्थों की भी उत्पत्ति मानी गयी है। इसलिए विराट् पुरुष का विकास राज्य मात्र तक सीमित नहीं है। राज्य उसका आंशिक विकास मात्र है। विराट् पुरुष सम्पूर्ण जगत का समष्टि रूप है और महाप्रलय के समाप्त होने पर उसी विराट् पुरुष से विविध प्रकार की सृष्टि का पुनः सर्जन होता है। इस प्रकार यह सृष्टि-रचना का एक सिद्धान्त है जिसमें भारतीय आर्य जनता अनन्त काल से विश्वास करती चली आ रही है। सृष्टि के इसी सर्जन के अन्तर्गत राज्य का भी सर्जन इसी विराट् पुरुष के कतिपय अंगों अथवा अवयवों से हुआ है, वैदिक साहित्य में ऐसा वर्णित है।

इस प्रकार वैदिक आवयविक सिद्धान्त एक विशेष कल्पना है जिसकी समता, इस रूप में, पाश्चात्य राजशास्त्र के अन्तर्गत वर्णित तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से नहीं की जा सकती। वैदिक आवयविक सिद्धान्त अपनी निजी विशेषता के कारण राजनीति के इतिहास में अद्वितीय स्थान ग्रहण किये हुए है और इसी प्रकार अपना निजी अस्तित्व रखे हुए है।

अध्याय ५

राज्य के तत्व

सप्ततत्व सिद्धान्त

राज्य एक मानव संघ है। अन्य मानव संघों की अपेक्षा यह एक विशिष्ट संघ है। इस संघ की विशेषता इसके स्वाभाविक स्वरूप एवं इसके उन तत्वों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है जिनके द्वारा इसका निर्माण होता है। आधुनिक युग में राजशास्त्र के कतिपय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का विशेष अध्ययन किया है। इन विद्वानों में कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने प्राचीन भारतीय राज्य के तत्वों पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इन विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत में राज्य के सात तत्व माने गये थे। इसी आधार पर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख प्रणेताओं ने सप्तात्मक अथवा सप्तप्रकृतियुक्त राज्य मानकर उसे सप्तात्मक अथवा सप्तांग वा सप्तप्रकृतियुक्त राज्य के नाम से सम्बोधित किया है। राज्य के ये कथित सात तत्व राजा अथवा स्वामी वा आत्मा, मंत्री अथवा अमात्य, कोश, राष्ट्र अथवा जनपद वा देश, सेना अथवा बल, दुर्ग अथवा पुर और मित्र अथवा सुहृद् हैं।[1] इस प्रकार इन विद्वानों का ऐसा मत है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राज्य के सात तत्व माने थे और जो यही सात तत्व थे।

परन्तु इन विद्वानों का यह मत जब सत्य की कसौटी पर परीक्षण हेतु रखा जाता है, खरा नहीं उतरता। प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक जीवधारी अथवा अजीवधारी पृथिवी तल पर तभी तक अपना अस्तित्व धारण करता है जब तक कि उसके वे तत्व, जिनसे उसका निर्माण हुआ है, उसमें विद्यमान रहते हैं। तत्वविहीन हो जाने पर उसका अस्तित्व तुरन्त नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी को ले लीजिए। पानी का निर्माण उसके दो तत्वों से हुआ है। वे हैं आक्सीजन और हाईड्रोजन । जब

१. २४९।९ मानवधर्मशास्त्र।   ६७।६९ अनुशासन पर्व, महाभारत।
   १।१।६ अर्थशास्त्र।   ६१।१ शुक्रनीति।

तक दोनों तत्व परस्पर संयुक्त रहते हैं, पानी का अस्तित्व बना रहता है। ज्यों ही दोनों तत्व परस्पर पृथक् हो जाते हैं उसी क्षण पानी का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। प्रकृति का यही नियम है। मानव समाज एवं विविध प्रकार के अन्य सभी मानव संघों पर भी प्रकृति का यह नियम अबाध रूप में लागू है। मानव समाज एक संगठित जन समुदाय है। कुछ लोग, कुछ नियम, एक निर्दिष्ट उद्देश्य आदि इसके तत्व हैं जिनसे इसका निर्माण होता है। समाज के इन तत्वों में एक तत्व का भी अभाव समाज के अस्तित्व को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार राज्य एक राजनीतिक मानव-संघ है। राज्य के भी कुछ तत्व होते हैं और उन्हीं तत्वों के संयोग से राज्य का निर्माण होता है। परन्तु ज्यों ही राज्य के इन तत्वों में एक तत्व का भी अभाव हो जाता है उसी क्षण राज्य का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। इसलिए यह ध्रुव सत्य है कि राज्य के अस्तित्व के लिए उसके सभी तत्वों का एक साथ संयुक्त रहना अनिवार्य है।

परन्तु प्रकृति का यह नियम अंगों पर लागू नहीं होता। मनुष्य अंगविहीन हो जाने पर भी जीवित रहता है और मनुष्य ही बना रहता है; उसके अस्तित्व का नाश नहीं होता है। एक अंग के अभाव में शरीर के दूसरे अंग शरीर के उस अंग के कार्य-भार को धारण कर लेते हैं और इस प्रकार उस मनुष्य के शरीर का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है और वह अपने कर्तव्य का पालन पूर्ववत् करता रहता है। हाथ कट जाने पर, टाँग के न रहने पर, नेत्रहीन हो जाने पर अथवा श्रवण शक्ति के चले जाने पर भी वह मनुष्य ही कहलाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं कि अंगहीन हो जाने पर मनुष्य का अस्तित्व नष्ट हो जाय। वह जीवित रहता है और मनुष्य ही कहलाता है। परन्तु जिन तत्वों से मनुष्य का निर्माण हुआ है उनमें एक का भी अभाव उसे अस्तित्वहीन कर देगा और उसका अस्तित्व सदैव के लिए नष्ट हो जायगा। इस कसौटी पर जब राज्य के उपर्युक्त कथित सात तत्वों की परीक्षा की जाती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे राज्य के तत्व नहीं हैं अपितु उसके अंग मात्र हैं। इसीलिए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य को सप्तात्मक अथवा सप्तांग राज्य के नाम से सम्बोधित किया है। यह स्पष्ट है कि राज्य के इन कथित तत्वों में कुछ ऐसे हैं जिनका अभाव होने पर भी राज्य ज्यों-का-त्यों बना रहता है और उसके अस्तित्व पर वैध रूप में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, राज्य से उसके सुहृद् अथवा मित्र अंग को पृथक् कर देने पर उसके अभाव में राज्य का अस्तित्व मिटता नहीं है

अपितु ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। इसी प्रकार सेना अथवा कोश का अभाव भी राज्य के अस्तित्व को मिटाता नहीं है।

इसलिए यह मान लेना कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने इन सात अंगों को राज्य के तत्व माना था, भारी भूल होगी। अतएव प्राचीन भारतीय राज्य के तत्वों की खोज हेतु पुनश्चिन्तन की परम आवश्यकता है।

वैदिक संहिताओं में राज्य के तत्त्व

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में एक भी ऐसा संकेत नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वैदिक युग में सप्तात्मक अथवा सप्तांग राज्य की कल्पना की जा चुकी थी। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि राज्य के सप्तात्मक अथवा सप्तांग स्वरूप से अपरिचित थे। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग के समाप्त हो जाने के बहुत काल पश्चात् प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के सप्तात्मक अथवा सप्तांग स्वरूप की स्थापना की है। यह कौन समय था, इस विषय के निर्णय हेतु प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। अतः इस प्रश्न के उत्तर के लिए मौन रहना ही उचित है। ऐसी परिस्थिति में सप्तांग अथवा सप्तात्मक राज्य के प्रसंग में राज्य के तत्वों की खोज करना व्यर्थ प्रयास करना होगा। वैदिक राज्य के तत्वों की खोज हेतु वैदिक साहित्य का ही आश्रय लेना उचित होगा।

राज्य के तत्व होते हैं—वैदिक संहिताओं में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है। कुछ ऐसे संकेत अवश्य पाये जाते हैं जिनके आधार पर वैदिक राज्य के तत्वों की खोज की जा सकती है। संहिताओं में राष्ट्र शब्द का प्रयोग भूभाग के लिए हुआ है। उत्तम राष्ट्र के विशेष लक्षणों का भी उल्लेख संकेत रूप से इन ग्रन्थों में यत्र-तत्र किया गया है। राष्ट्र से भिन्न विश् शब्द है जो उन राष्ट्रवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो राष्ट्र में सम्पूर्ण समाज के भरण-पोषण का भार धारण करते थे। राष्ट्र के ये निवासी कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यापार, लेन-देन आदि सम्बन्धी व्यवस्था करते थे। वैदिक युग में यही लोग आर्य राज्य की जनता (People) माने गये थे। इस प्रकार राष्ट्र और विश् आर्य राज्य के तत्वों में परिगणित थे।

ऋग्वेद के कई प्रकरणों में राष्ट्र और विश् का प्रयोग एक साथ हुआ है। इन प्रसंगों में राष्ट्र और विश् शब्द क्रमशः भूभाग और उस भूभाग (राष्ट्र) के निवासियों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[1] इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनमें राष्ट्र

१. १।१२४।१० ऋग्वेद।

और विश् का प्रयोग इन्हीं अर्थों में हुआ है।[1] अथर्ववेद में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए राष्ट्र और विश् का प्रयोग एक साथ हुआ है।[2] इन प्रकरणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं में आर्य राज्य के राष्ट्र और विश् दो पृथक् तत्व माने गये थे।

वैदिक संहिताओं में राज्य का तीसरा तत्व भी मिलता है। वह तत्व वैदिक साहित्य में 'क्षत्र' के नाम से उल्लिखित है। वैदिक आर्यों में एक विशेष वर्ग, जिसे वैदिक भाषा में राजन्य भी कहा गया है, क्षत्र पदवी धारण करता था। सम्पूर्ण समाज की रक्षा की सामर्थ्य के गुण को क्षत्र कहते थे। आर्य राज्य में राजन्य वर्ग ही शासक था। वही वैध शासनाधिकारी था। इस दृष्टि से वैदिक राज्य की सरकार अथवा राजनीतिक एकता का प्रतीक यही राजन्य वर्ग था। इस प्रकार वैदिक संहिता-कालीन आर्य राज्य का तीसरा तत्व राजन्य था। यही कारण है कि राष्ट्रवासी होने पर भी राजन्य (क्षत्रिय वर्ग) आर्य राज्य में उस युग में जन साधारण से भिन्न बतलाया गया है। राजन्य का एकमात्र कर्तव्य शासन करना निर्धारित किया गया था। इस दृष्टि से राजन्य ही आर्य राज्य की सरकार और वे ही उसकी राजनीतिक एकता के मूल थे।

परन्तु वैदिक ऋषियों ने राजन्य की स्वतंत्रता के कुप्रभावों एवं उसके उच्छृंखल हो जाने के दुष्परिणामों को भी ध्यान में रखा था। उन्होंने, इसीलिए, यह आवश्यक समझा कि राज्य में राजन्य स्वच्छन्द रहकर मर्यादा का अतिक्रमण कर सकता है; और ऐसा हो जाने पर राज्य का निर्माण जिस हेतु किया जाता है वह उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। राज्य नष्ट होकर अराजक समाज में परिवर्तित हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में मात्स्य न्याय का आधिपत्य हो जायगा। इस दशा में लोग परस्पर भयभीत होकर नष्ट हो जायँगे। इसलिए राजन्य को मर्यादित एवं सम्यक् नियंत्रण में रखने के लिए एक विशेष बल के सर्जन की आवश्यकता अनुभव की गयी। यही बल, वैदिक भाषा में ब्रह्मबल के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक साहित्य में ब्रह्मबल का प्रतीक ब्राह्मण माना गया है। ब्राह्मण का प्रधान कर्तव्य तप और त्याग द्वारा ब्रह्मबल अर्जित करना, उसके द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण हेतु राजन्य का पथप्रदर्शन करना और उसे (राजन्य को) नियंत्रण में रखना था।

१. ८।२० यजुर्वेद। २. ९।१।१३ अथर्ववेद।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में राज्य के चार तत्वों की कल्पना की गयी थी। वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार ये चार तत्व राष्ट्र, विश्, क्षत्र और ब्रह्म थे। इन्हीं चार तत्वों के संयोग से वैदिक आर्य राज्यों का निर्माण हुआ था। अथर्ववेद में इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए राज्य के इन तत्वों की ओर संकेत किया गया है।[1]

वैदिक संहिताओं में राज्य के तत्वों का स्वरूप

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं में वैदिक आर्य राज्य के चार तत्व पाये जाते है। राज्य के ये चार तत्व राष्ट्र, विश्, क्षत्र और ब्रह्म हैं। वैदिक संहिता कालीन आर्य राज्य के उपर्युक्त चार तत्वों का वास्तविक स्वरूप क्या था, इसे जान लेने की भी आवश्यकता है। आधुनिक युग में राज्य के जो तत्व निर्धारित किये गये हैं उनसे वे कहाँ तक समान अथवा असमान थे ? उन दोनो प्रकार के तत्वों में क्या विशेषता थी ? आदि विषयों का बोध होना परमावश्यक है। संहिता-कालीन आर्य राज्य के तत्वों के स्वरूप का वर्णन जैसा कि वैदिक संहिताओं में पाया जाता है, यथासम्भव, इस प्रसग में दिया जा रहा है।

(क) ब्रह्म का स्वरूप

वैदिक संहिताओं में सृष्टि-रचना-क्रम का वर्णन है। सृष्टि-रचना-क्रम सम्बन्धी प्रसंगों मे उस युग के समाज के निर्माण एवं उसके संगठन की ओर भी संकेत किये गये हैं। इन संकेतों से ज्ञात होता है कि मनुष्य के सर्वांग सम्यक् विकास के लिए सुव्यवस्थित उच्च आदर्श-सम्पन्न समाज की परम आवश्यकता होती है। इस समाज में रहता हुआ मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सर्वांग पूर्ण सम्यक् विकास करता रहता है। उसके विकास के साथ-साथ उसके समाज का विकास भी उसी क्रम से होता रहता है। मनुष्य इसी समाज में रहता हुआ अपने कर्तव्यों का पालन करता है और उसी क्रम से अपने अधिकारों का भी भोग करता रहता है। इस प्रकार वह इस लोक में सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत करता हुआ अपने जीवन के परम एवं चरम ध्येय को प्राप्त करने में समर्थ होता है। परन्तु इस प्रकार के व्यक्ति एवं उसके समाज के निर्माण हेतु प्राणिमात्र के कल्याण करने वाले कार्यों के बोध के निमित्त यथार्थ ज्ञान की परम आवश्यकता होती है। इस यथार्थ ज्ञान द्वारा ही मनुष्य और उसके समाज के सम्यक्

१. ८।५।१३ अथर्ववेद।

विकास एवं कल्याण हेतु योजनाएँ बनायी जा सकती हैं। इन्हीं योजनाओं के कार्यान्वित होने से इस उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव है। वैदिक भाषा में इस ज्ञान को ब्रह्मबल की संज्ञा दी गयी है। वैदिक विचार-धारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मबल धारण करने की सामर्थ्य नहीं रखता। इस प्रकार सभी मनुष्य ब्रह्मबल धारण करने के अधिकारी नहीं होते। इसलिए मानव-समाज के प्रतिभा-सम्पन्न कुछ विशेष पुरुषों को ब्रह्मबल धारण करने का अधिकारी समझा गया है। सदाचारी, वीतराग, प्राणिमात्र का कल्याण चाहने वाले, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मण को ब्रह्मबल धारण करने का अधिकारी बतलाया गया है। ब्राह्मण प्राणिमात्र के कल्याण हेतु, उनके सुख एवं शान्ति हेतु जीवन सम्बन्धी योजना का निर्माण कर उसको लोक के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस प्रकार ब्रह्मबल राज्य में बुद्धि-बल है। वह बुद्धिबल साधारण कोटि का नहीं है अपितु विशेषतापूर्ण है। वह सद्बुद्धि अथवा सुमति है जो प्राणिमात्र के कल्याण का मार्ग प्रदर्शित करती है और इस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा देती है। इस प्रकार ब्रह्मबल मनुष्य को इस लोक में सुख और शान्तिमय जीवन की योजना प्रस्तुत करता हुआ उसके जीवन के परम एवं चरम ध्येय तक उसे ले जाने में उसके दक्षिण हाथ की भाँति निरन्तर सहायक बना रहता है।

(ख) क्षत्र का स्वरूप

परन्तु मनुष्य में सुर और असुर दोनों वृत्तियाँ होती हैं। इन वृत्तियों में परस्पर निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में कभी सुर और कभी असुर वृत्तियाँ विजयी होकर मनुष्य को आगे-पीछे खींचती रहती हैं। इस खींच-तान का परिणाम यह होता है कि मनुष्य मोह-ग्रस्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में क्या सत्य है और क्या अनृत, इसके जानने में वह असमर्थ हो जाता है। वह अपने कर्तव्य-पथ से विचलित होकर अपने गन्तव्य स्थान से दूर पहुँच जाता है और इस प्रकार वह अपने जीवन में विफल रहता है। इसलिए उचित समझा गया कि इस योजना के विधिवत् कार्यान्वित होने के लिए मानव समाज में एक विशेष प्रकार के बल का सर्जन किया जाय जिसके द्वारा ब्रह्मबल की ओर से प्रस्तुत की जाने वाली लोककल्याणदायिनी योजनाओं को कार्य-रूप देने के निमित्त सम्यक् व्यवस्था की जा सके, और इस प्रकार असुर-वृत्तियों के कुप्रभाव के कारण पथ-भ्रष्ट मनुष्य को दण्ड देकर उसे पतन से बचा लिया जाय और कर्तव्य-पथ पर चलने के लिए बाध्य किया जाय। वैदिक भाषा में इसी बल को क्षत्रबल अथवा क्षत्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस बल को भी ब्रह्मबल के समान

ही सभी प्राणी धारण करने में समर्थ नहीं होते। ब्रह्मबल के समान यह बल भी मानव समाज के एक विशेष वर्ग में निहित माना गया है। मनुष्यों का यह वर्ग राजन्य बतलाया गया है। मानव समाज में राजन्य क्षत्रबल को धारण करते हैं, ऐसा वैदिक संहिताओं में वर्णित है।[1] इस प्रकार क्षत्र का एक मात्र कर्तव्य ब्रह्म की आज्ञाओं का पालन करना और उसके अधीन रहकर उसके द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत की गयी लोक कल्याणदायिनी योजनाओं को कार्यान्वित करते रहना है। इस दृष्टि से क्षत्र प्रभु नहीं है, ब्रह्म प्रभु है। उसी में राज्य की प्रभुता का निवास है। क्षत्र राज्य की सरकार है।

वैदिक संहिताओं में लोक कल्याण के लिए ब्रह्म और क्षत्र के महत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। ये दोनों पारस्परिक सहयोग द्वारा मनुष्य एवं उसके समाज का कल्याण करने में सतत व्यस्त रहते हैं। ब्रह्म मानव समाज में सुख और शान्ति की स्थापना हेतु सम्यक् व्यवस्था का स्वरूप प्रस्तुत करता रहता है और क्षत्र इस व्यवस्था को कार्य में परिणत करने के लिए भरसक प्रयत्न करता रहता है। वह उसके शुद्ध रूप को स्थायित्व देने के लिए लोक के समक्ष अधिक से अधिक सुविधा प्रदान करने में निरन्तर संलग्न रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि यह लोक प्राणियों के सुख एवं शान्तिमय जीवन व्यतीत करने योग्य बन जाता है। इस तथ्य की पुष्टि में वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र संकेत किये गये हैं। यजुर्वेद में उस लोक को पुण्यवान् बतलाया गया है जहाँ ब्रह्म और क्षत्र में परस्पर सुमति रहती है और दोनों परस्पर सहयोग से रहते हैं; एक दूसरे के पूरक बनकर विचरण करते हैं।[2] ब्रह्म पथ-प्रदर्शन करता है और क्षत्र ब्रह्म द्वारा निर्धारित एवं लक्षित किये गये पथ पर सम्पूर्ण समाज को ले चलने की व्यवथा करता है और उस व्यवस्था के अनुसार वह उसे उस पथ पर चलने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार क्षत्र ब्रह्म के नेतृत्व में रहकर ब्रह्म द्वारा प्रस्तुत सुख और शान्ति की योजना को कार्यान्वित करने के लिए जनता को बाध्य करता रहता है। यजुर्वेद में लक्षित इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म और क्षत्र मनुष्य और उसके समाज के सम्यक् विकास हेतु अनिवार्य हैं। ब्रह्म की सहायता के बिना मनुष्य चक्षुहीन पुरुष के समान भ्रष्ट होकर इधर-उधर भटक कर नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर यह निर्विवाद है कि ब्रह्म की सहायता से अपने गन्तव्य

१. १।२० यजुर्वेद। २. २५।२० यजुर्वेद।

स्थान एवं उसके मार्ग को जान लेने पर भी वह क्षत्र की सहायता के बिना अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच नहीं पाता। उसके मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। क्षत्र मनुष्य और उसके गन्तव्य स्थान के मार्ग में उपस्थित विघ्न-बाधाओं का शमन करता है और इस प्रकार उसके मार्ग को प्रशस्त बना देता है। इस दृष्टि से ब्रह्म और क्षत्र दोनों अन्योन्याश्रित बतलाये गये हैं; एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव माना गया है। वे परस्पर पूरक हैं।

(ग) विश् का स्वरूप

इस प्रकार वैदिक आर्य राज्य में ब्रह्म और क्षत्र अर्थात् ब्राह्मण और राजन्य दोनों जन-साधारण से पृथक् समझे जाते थे; जन साधारण में उनकी गणना नहीं की गयी थी। दूसरी ओर वैदिक आर्य राज्य में, वे लोग भी जन-साधारण में सम्मिलित नहीं किये गये थे जिनका व्रत सेवा करना मात्र था; जिन्हें वैदिक भाषा में शूद्र नाम से सम्बोधित किया गया है। इन्हें सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया था। इस प्रकार ब्राह्मण, राजन्य और शूद्र को जन-साधारण से पृथक् कर दिया गया था। वैदिक राज्य की जनता (People) केवल वे लोग माने गये थे जिनके जीवन का व्रत राज्य में ब्राह्मण, राजन्य, शूद्र और स्वयं अपने सम्यक् भरण-पोषण के निमित्त वांछनीय सामग्री का उत्पादन एवं संवर्द्धन करना था। अपने इस व्रत का पालन करने के लिए वे समय एवं परिस्थितियों के अनुसार व्यवसाय धारण करते थे। उस युग में उनके मुख्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यापार और रुपए-पैसे के लेन-देन सम्बन्धी कार्य थे। वैदिक भाषा में इन्हीं लोगों को विश् नाम से सम्बोधित किया गया है और इन्हें वैदिक आर्य राज्य का एक तत्व माना गया है।

इस दृष्टि से आधुनिक युग की राजनीतिक विचार-धारा के अनुसार राज्य के इस तत्व की जो कल्पना की गयी है उसमें और वैदिक राजनीतिक विचार-धारा के अनुसार उसकी जो रूपरेखा निश्चित की गयी है, इन दोनों में अन्तर है। आधुनिक युग में राज्य के लगभग सभी निवासी उस राज्य के इस तत्व के अन्तर्गत परिगणित किये गये हैं। परन्तु वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार ऐसा नहीं है। इस विचारधारा के अनुसार केवल वे लोग यह तत्व माने गये हैं जिन पर राज्य के सम्पूर्ण प्राणियों के भरण-पोषण हेतु वांछनीय सामग्री के उत्पादन एवं उसके संवर्धन का दायित्व था। इस प्रकार वैदिक राज्य के इस तत्व का क्षेत्र आधुनिक युग के राज्यों के तत्सम्बन्धी तत्व के क्षेत्र की अपेक्षा संकीर्ण एवं अनुदार जान पड़ता है।

(घ) राष्ट्र का स्वरूप

राष्ट्र का तात्पर्य उस भूभाग से है जो राज्य-सीमा के अन्तर्गत आता है। राष्ट्र के स्वरूप के विषय में वैदिक संहिताओं में विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। राज्य के लिए किस प्रकार का भूभाग (राष्ट्र) होना चाहिए; उसके अन्न, घास, काष्ठ, रत्न आदि के उत्पादन की सामर्थ्य एवं ऋतुओं के प्रभाव, जल की सुविधा आदि विषयों का विवेचन नहीं किया गया है। इतना होने पर भी वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र कुछ ऐसी प्रार्थनाएँ की गयी हैं जिनमें इस ओर कतिपय संकेत किये गये हैं और जिनके आधार पर आदर्श राष्ट्र के विषय में संहिताकालीन वैदिक ऋषियों की जो धारणा थी, किसी अंश तक उसका अनुमान किया जा सकता है। इस विषय में ऋग्वेद के एक सूक्त में कतिपय संकेत इस ओर किये गये हैं जिनका उल्लेख इस प्रसंग में कर देना उचित होगा। ऋग्वेद के इस सूक्त में सोम के प्रति प्रार्थना की गयी है—'हे सोम ! जिस भूभाग (लोक) में आनन्द, आमोद-प्रमोद आदि है और जहाँ सारी कामनाएँ तृप्त हो जाती हैं वहाँ मेरा वास हो।[1] जिस लोक में सूर्यदेव राजा हैं, जो सुख का द्वार है और जहाँ जल-भरी नदियाँ निरन्तर बहती रहती हैं, उसी लोक में हमारा वास हो।'[2] इसी प्रकार यजुर्वेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गयी है। इस प्रार्थना में उस युग के अनुरूप आदर्श राष्ट्र के लक्षण स्पष्ट किये गये हैं। यह प्रार्थना इस प्रकार है—'हे ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों; धनुर्विद्या में कुशल, शूरवीर, दुष्टों का अतिवेधन करने वाले एवं महारथी राजन्य उत्पन्न हों; दूध देने वाली गौएँ, भार वहन करने में समर्थ वृषभ तथा द्रुतगामी अश्व उत्पन्न हों; सर्वगुण सम्पन्न महिलाएँ हों; रथयानों से सम्पन्न, सभ्य युवक और वीर पुत्र उत्पन्न हों; इच्छित अवसरों पर मेघ वर्षा किया करें; राष्ट्र में अन्न से परिपूरित सस्य उत्पन्न हो और हमारे राष्ट्र में सदैव योग-क्षेम बना रहे।'[4]

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि राष्ट्र में उन सभी पदार्थों एवं प्राणियों के उत्पादन की सामर्थ्य होनी चाहिए जिनसे राष्ट्र वासियों का सम्यक् भरण-पोषण होता है, उनका निरन्तर सम्यक् विकास होता है और वे सम्यक् प्रकार से सुरक्षित बने रहते

१. ११।११३।९ ऋग्वेद। २. ७।११३।९ ऋग्वेद। ३. ८।११३।९ ऋग्वेद।
४. २२।२२ यजुर्वेद।

हैं। इन प्रसंगों में वैदिक आर्य राज्य के आदर्श राष्ट्र के विशेष लक्षणों का संक्षिप्त परिचय हो जाता है और उसके आधार पर वैदिक राज्य के चौथे तत्व अर्थात् राष्ट्र (भूभाग) के स्वरूप की स्थापना ज्ञात हो जाती है।

इस प्रकार वैदिक संहिता कालीन राजनीतिक विचार-धारा के अनुसार राज्य के चार तत्व माने गये हैं जो ब्रह्म, क्षत्र, विश् और राष्ट्र हैं। ब्राह्मण ब्रह्म का और राजन्य क्षत्र का प्रतीक माना गया है। ब्रह्म परमाधिकारी अथवा प्रभुतासम्पन्न बतलाया गया है।[1]

उत्तर वैदिक काल में राज्य के तत्व

समय व्यतीत होने के साथ-साथ वैदिक संहिता कालीन आर्य राज्य के तत्वों के स्वरूप में भी समयानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक था। उत्तर वैदिक काल में आर्य राज्य के तत्वों के स्वरूप में जो परिवर्तन हुए हैं वैदिक साहित्य में उनकी ओर संकेत किये गये हैं। परन्तु इस विषय में सबसे अधिक स्पष्ट संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रसंग में आज भी उपलब्ध है। इसलिए इन्हीं संकेतों का आश्रय लेकर उत्तर वैदिक कालिक राज्य के तत्वों के स्वरूप की रूपरेखा खींचने का प्रयास किया जायगा।

धर्म—बृहदारण्यकोपनिषद् के इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि उस युग में ब्रह्म ने व्यापक रूप धारण कर लिया था और इसीलिए वह राज्य के तत्व की सीमा मात्र में ही आबद्ध न रहा और इस प्रकार वह पूर्ववत् राज्य का तत्व न रह सका। उस युग में यह अनुभव किया गया कि ब्रह्म व्यापक है, ब्रह्म को राज्य का एक तत्व मानने में अनेक कठिनायियाँ उपस्थित होंगी। यही कारण था कि चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की सृष्टि कर देने के उपरान्त भी ब्रह्म इस लोक में विभूति युक्त कार्य न कर सका (स नैव व्यभवत्)। इसलिए उसने धर्म का सर्जन किया और उसे परमत्व का अधिकार प्रदान किया। उसने धर्म को क्षत्र का भी क्षत्र (क्षत्रस्य क्षत्रम्) बनाया। धर्म की उत्पत्ति के विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में जो आख्यान दिया हुआ है वह इस प्रकार है—'वह (ब्रह्म) क्षत्रिय, विश और शूद्र रूप पूषा का सर्जन कर लेने के उपरान्त भी विभूतियुक्त कार्य करने में समर्थ न हो सका। उसने अनुभव किया कि क्षत्र का स्वभाव उग्र होता है। इसलिए क्षत्र को नियंत्रण में रखने की आवश्यकता

१. ८।५०।४ ऋग्वेद।

है। ऐसा समझकर उसने अतिशयता से श्रेयो रूप का सर्जन किया। यह श्रेयो रूप धर्म कहलाया। यह धर्म क्षत्र का भी क्षत्र है (तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रम्), अर्थात् क्षत्र का भी नियन्ता है और उससे भी अधिक उग्र है।"[1] क्षत्र का भी नियन्ता होने के कारण धर्म से उत्कृष्ट और कोई नहीं रहा, क्योंकि क्षत्र के द्वारा सभी का नियमन होता है और धर्म ऐसे क्षत्र का भी नियमन करता है। इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् के इस आख्यान के अनुसार धर्म परम नियामक है। उसका नियामक अन्य कोई नहीं है। इस दृष्टि से धर्म में प्रभुता निवास करती है; धर्म ही प्रभु (Sovereing) है। इस आधार पर यह निर्विवाद है कि उत्तर वैदिक काल में राज्य के एक तत्व—प्रभुता (Sovereingty) का उदय धर्म के रूप में हुआ था।

बृहदारण्यकोपनिषद् के इस प्रसंग में धर्म के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। इस प्रसग में बतलाया गया है कि सत्य ही धर्म है। इस पृथिवी तल पर जो सत्य है वही धर्म है और जो अनृत है वही अधर्म है। इस उपनिषद् में इसीलिए सत्य-वचन को धर्म-वचन और सत्यवादी को धर्मवादी माना गया है। सत्यवादी और धर्म-वादी में अन्तर नहीं है। वे दोनों एक ही है।[2] अन्तर केवल इतना है कि सत्य का व्यावहारिक रूप धर्म है अर्थात् सत्य व्यवहार ही धर्म है। इसलिए क्षत्र इसी सत्य के व्यवहाररूप के नियत्रण में रहे, ऐसा बृहदारण्यकोपनिषद्कार का मत है। लोक कल्याण हेतु सत्यनिष्ठ ऋषि-मुनियों द्वारा सदाचार की स्थापना के लिए जो नियम अथवा विधान समय-समय पर निर्माण किये गये हैं उन्ही के अनुसार आचरण करना धर्म है। इसलिए इन्ही नियमो अथवा विधानों के अधीन रहकर क्षत्र लोक-कल्याण में संलग्न रहे। इन आचार-नियमों अथवा विधियों के उल्लंघन करने का अधिकारी क्षत्र नहीं है। ये आचार-नियम अथवा विधि राज्य मे प्रभु (Sovereing) हैं।

क्षत्र—बृहदारण्यकोपनिषद् में जहाँ धर्म की उत्पत्ति का उल्लेख है उसी प्रसंग मे क्षत्र की उत्पत्ति का भी वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में क्षत्र की उत्पत्ति के विषय मे इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—'आदि काल में (अग्रे) अकेला ब्रह्म ही था। अकेला होने के कारण ब्रह्म विभूति युक्त कार्य करने में समर्थ नहीं हुआ। इसलिए उसने श्रेयो रूप क्षत्र का सर्जन किया, अर्थात् देवों में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु, ईशानादि को जो क्षत्रिय हैं, उत्पन्न किया। इसीलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण

१. १४।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्। २. १४।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्।

नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। ब्रह्म ने क्षत्र को अतिशय रूप से रचा है। इसलिए क्षत्रिय से उत्कृष्ट ब्राह्मण का भी नियमन करने वाला अन्य दूसरा कोई नहीं है। इस कारण क्षत्र की योनि (जन्म का कारण) होने पर भी राजसूय यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मण नीचे बैठकर ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित क्षत्रिय की उपासना करता है। जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण की हिंसा करता है वह अपनी योनि का ही नाश करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ की हिंसा करने से पुरुष पापी हो जाता है उसी प्रकार ब्राह्मण-हिंसक क्षत्रिय पापी होता है।[1]

बृहदारण्यकोपनिषद् में जो ये विचार व्यक्त किये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि लोक पर शासन करने के लिए ब्रह्म ने क्षत्रिय का सर्जन किया और उसे लोक का अधिपति बनाया। इस प्रकार आर्य राज्य में क्षत्रिय ही शासक है। दूसरे शब्दों में क्षत्रिय ही राज्य की सरकार अथवा राज्य में राजनीतिक एकलता है। इस सरकार में राजा का प्रमुख स्थान होता है जिसे वह राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों का सम्पादन कर लेने के उपरान्त विधिवत् प्राप्त करता है। राजा इस सरकार में सर्वोच्च अधिकारी है और वह कार्यपालिका का प्रधान है। उसे परमोच्चता अथवा प्रभुता (Sovereingty) धारण करने का अधिकार नहीं है। परमोच्चता अथवा प्रभुता एक मात्र धर्म में वास करती है। वही उसके धारण करने का वैध अधिकारी है। धर्म के नियंत्रण में रहकर उसे शासन करने का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में राज्य का एक तत्व क्षत्रिय माना गया है और जो राज्य की सरकार के रूप में शासन करने का अधिकारी बतलाया गया है। वह अपने अधीन प्राणियो पर उसी प्रकार शासन करने का अधिकारी है जिस प्रकार कि इन्द्र देवों पर, वरुण जलचरों पर, सोम ब्राह्मणों पर, रुद्र पशुओं पर, मेघ विद्युत् आदि पर, यम पितरों पर, मृत्यु रोगादि पर और ईशान प्रकाशों पर शासन करने के अधिकारी हैं।

विश्—उत्तर वैदिक काल में भी आर्य राज्य का तत्व विश् माना गया है। विश् के अभाव में लोक का कार्य न चल सका। इसलिए ब्रह्म ने विश् के सर्जन की आवश्यकता अनुभव की। क्षत्रिय शासक है। परन्तु वह किस पर शासन करे, यह समस्या बनी ही रही। इसलिए विश् की उत्पत्ति की गयी। ब्रह्म ने प्राणियों के भरण-पोषण हेतु विश्

१. ११।४।११ बृहदारण्यकोपनिषद्।

को बनाया और उसे यह कार्यभार सौंपा गया। विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् के विचार इस प्रकार हैं—'क्षत्रिय की उत्पत्ति हो जाने पर भी ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहो हुआ। इसलिए उसने विश् (वैश्य वर्ण) का सर्जन किया। जो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत आदि देवजात गणशः (गण अथवा संघबद्ध होकर जीवन व्यतीत करने वाले) हैं उन्हें उत्पन्न किया।'[१] विश् ही आर्य राज्य में जनता माने गये हैं।

इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में राज्य के इस (विश) तत्व का स्वरूप लगभग वही बना रहा जो कि वैदिक संहिताओं के युग में निर्धारित किया गया था।

पूषा—बृहदारण्यकोपनिषद् के इस प्रसंग में पूषा की उत्पत्ति के विषय में जो आख्यान दिया गया है उसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में राज्य का एक तत्व पूषा माना गया था। इस प्रकार वैदिक संहिता कालीन राष्ट्र नाम के राज्य के तत्व को उत्तर वैदिक काल में 'पूषा' की संज्ञा देकर उसे राज्य के तत्वों में स्थान दिया गया। शतपथ ब्राह्मण में पूषा को स्पष्ट करते हुए इस शब्द की व्याख्या में बतलाया गया है कि यह पृथिवी ही पूषा है।[२] बृहदारण्यक उपनिषद् के पूषा शब्द की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक आदि शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि पोषण करने की सामर्थ्य जिसमे हो वह पूषा है। पृथिवी ही प्राणिमात्र का पोषण करती है। इसलिए पृथिवी ही पूषा है।[३] क्षत्रिय और विश (वैश्य) का सर्जन हो जाने पर ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में असमर्थ रहा। इसलिए उसने पूषा का सर्जन किया। अर्थात् उसने शौद्र वर्ण का सर्जन किया। पूषा शौद्र वर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि जो कुछ भी है यही उसका पोषण करती है।[४]

इस प्रकार इस प्रसग में यह स्पष्ट कर दिया गया कि पोषण करने की सामर्थ्य रखने वाला भूभाग पूषा है और वही उत्तर वैदिक आर्य राज्य का एक तत्व है। इस विचारधारा के अनुसार वही भूभाग राज्य का तत्व माना गया है जिसमें उस भूभाग के सभी निवासियों के भरण-पोषण की सामर्थ्य हो। इस दृष्टि से अपने निवासियों के भरण-पोषण हेतु समस्त सामग्री को अपने गर्भ में धारण न करने वाले भूभाग को राज्य

१. १२।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्। २. ७।४।५।२ शतपथ ब्राह्मण।
३. १३।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्। ४. १३।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्।

का तत्व मानना उचित न होगा। यह सत्य भी है। दूसरे के आश्रय पर जीवित रहने वाला राज्य कितने दिन जीवित रह सकेगा!

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि उत्तर वैदिक काल में वैदिक संहिता कालीन राज्य के तत्वों में कुछ विकास हुआ। संहिता कालीन आर्य राज्य के ब्रह्म, क्षत्र, विश् और राष्ट्र—इन तत्वों के स्थान में धर्म, क्षत्र, विश् और पूषा नाम के चार तत्वों की कल्पना की गयी। धर्म (सदाचार सम्बन्धी विधि) में प्रभुता (Sovereingty) निहित की गयी, और इस प्रकार धर्म सर्व-प्रथम प्रभु माना गया। धर्म इसी युग में राज्य का तत्व समझा गया जिसका स्वरूप सदाचार सम्बन्धी नियम—सद् व्यवहार नियम—अथवा विधि निर्धारित किया गया। इस प्रकार प्रभुता के वैध स्वरूप की लोक में सर्व प्रथम स्थापना उत्तर वैदिक काल में की गयी। इसके पूर्व ब्रह्म राज्य का एक तत्व था। धर्म ने उस का स्थान इस नवीन रूप में धारण किया। राष्ट्र को भी दूसरा नाम दिया गया जो पूषा कहलाया और जिसका विशेष लक्षण यह निर्धारित किया गया कि जिस भू-भाग में अपने निवासियों के सम्यक् भरण-पोषण की क्षमता हो वह भू-भाग राज्य का तत्व है।

इस प्रकार वैदिक आर्य राज्य के चार तत्व थे जो ब्रह्म अथवा धर्म, क्षत्र, विश्, और राष्ट्र अथवा पूषा कहलाते थे। धर्म प्रभु था, क्षत्र अथवा राजन्य राज्य की सरकार, विश् उस राज्य की जनता (People) और राष्ट्र अर्थात् भूभाग (Territory) थे। इन्हीं तत्वों के संयोग से वैदिक राज्य की उत्पत्ति हुई थी, ऐसा वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है।

अध्याय ६

राजा

राजा की आवश्यकता

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसकी ऋचाओं के निर्माण काल में वैदिक ऋषियों ने अपनी समकालिक आर्य जनता के कल्याण हेतु राजा की आवश्यकता अनुभव कर ली थी। उन्होंने भली भाँति समझ लिया था कि आर्य सभ्यता एवं संस्कृति को जीवित रखने और उनके विकास तथा प्रसार के लिए उनका राजा होना और उनके इस महान् कार्य में उसका सहयोग प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। वैदिक साहित्य में, जहाँ कहीं भी, राजा अथवा उसके पद का उल्लेख है उसके प्रति महान् आदर-सम्मान प्रदर्शित किया गया है और उसकी आवश्यकता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त की गयी है।[1]

शत्रु पर विजय प्राप्त करना, राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना करना और उसे स्थायी बनाना, राज्य के निवासियों को भयमुक्त रखना, राष्ट्र के सर्वांग विकास एवं समृद्धि के साधन जुटाये रखना आदि कुछ ऐसे महान् कार्य थे जिनका विधि-वत् सम्पादन राजा के सहयोग के बिना असम्भव समझा गया था। इसीलिए वेदों में राजा राज्य का जन्मस्थान और उसका केन्द्र बतलाया गया है।

राजा की नियुक्ति के सिद्धान्त

विश्व के इतिहास में वैदिक राजा का पद अपनी निजी विशेषता के लिए विख्यात है। उसका निजी अस्तित्व है तथा उसकी अपनी विलक्षणता है। अन्य जातियों ने जिस रूप में राजपद का स्वरूप निश्चित किया है और तदनुसार जो उसकी स्थापना की है उसमें और वैदिक राजपद के स्वरूप में विशेष अन्तर है। इस अन्तर के अनुसार वैदिक राजा की नियुक्ति के सिद्धान्तों में भी अपेक्षाकृत अन्तर है। इसलिए वैदिक राजा की

१. १।२० यजुर्वेद।

नियुक्ति के इन सिद्धान्तों का परिचय इस प्रसंग में दे देना आवश्यक है। इन सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण इस अध्याय में दिया जायगा।

(क) राजपद पर वर्ग विशेष का अधिकार

ऋग्वेदीय समाज का निर्माण कार्य-विभाजन सिद्धान्त पर आश्रित है। कार्य विभाजन की यह योजना ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में दी गयी है। इस योजना के अनुसार सम्पूर्ण समाज की, समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की सम्यक् स्थापना, दुष्ट-दलन आदि के कार्यभार का दायित्व समाज के एक विशेष वर्ग पर निर्धारित किया गया है। समाज के इस वर्ग को ऋग्वेद में राजन्य नाम से सम्बोधित किया गया है। राजन्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष की बाहुओं से बतलायी गयी है।[1] राजन्य वर्ग में किस श्रेणी के लोगों को स्थान दिया जाना चाहिए, इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण में कुछ प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार आर्यों का वह वर्ग राजन्य है जिसमें क्षात्र बल का प्राधान्य हो और जो युद्ध में शौर्य प्रदर्शन करने की सामर्थ्य रखता हो। इस सिद्धान्त के अनुसार राजन्य मात्र राजपद प्राप्ति का अधिकारी था। राजन्य क्षात्र बलधारी पुरुष था। इस दृष्टि से वैदिक आर्यों में केवल क्षत्रिय राज्याधिकारी था। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र राजपद के अधिकारी न थे। वैदिक आर्यों ने इस सिद्धान्त को अपने राजनीतिक जीवन में यथासम्भव कार्यान्वित भी किया था। इस तथ्य की पुष्टि वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र की गयी है।

राजन्य के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति का राज्याभिषेक किया जाय, वेदों में इसका निषेध किया गया है। राज्याभिषेक से सम्बन्धित वैदिक मंत्र एवं तत्सम्बन्धी कृत्यों की जो प्रक्रिया वैदिक साहित्य में हमें उपलब्ध है वह केवल राजन्य के लिए उपयोग में लाने के लिए है। अन्य पुरुषों के लिए उसका प्रयोग एवं उपयोग विधिविरुद्ध तथा अमान्य बतलाया गया है। वैदिक युग के समाप्त हो जाने के उपरान्त समय प्रवाह के साथ-साथ इस विचारधारा में संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गयी। इसका कारण यह था कि वैदिक युग के समाप्त हो जाने के बहुत पश्चात् क्षत्रिय से इतर कतिपय प्रतापी एवं विक्रमसंपन्न पुरुष भी राजा होने लगे थे। राजपद पर वैध रूप से आसीन होने के लिए क्षत्रिय से इतर इन पुरुषों का भी राज्याभिषेक होना अनिवार्य था। परन्तु वैदिक मंत्रों एवं वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष का राज्या-

१. १२।९०।१० ऋग्वेद। २. १०।२।६।१३; ६।५।१।१३ शतपथ ब्राह्मण।

मिषेक किया नहीं जा सकता था। यदि क्षत्रिय से इतर किसी पुरुष का राज्याभिषेक किया भी जाता तो वह विधिसम्मत नहीं माना जाता। लोक की दृष्टि में इस प्रकार किया गया राज्याभिषेक अमान्य होता। इसलिए राज्याभिषेक की वैदिक पद्धति के स्थान में एक नवीन पद्धति के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गयी; जिस के द्वारा क्षत्रिय से इतर पुरुषों का भी राज्याभिषेक नियमानुसार किया जा सकता था और इस विधि से किया गया राज्याभिषेक लोक की दृष्टि में मान्य एवं विधिसम्मत था। इस आवश्यकता की पूर्ति वैदिक युग के बहुत पश्चात्, राज्याभिषेक की पौराणिक तथा अमंत्रक पद्धतियों के निर्माण से कर दी गयी। इन पद्धतियों को समय परिवर्तन को देखते हुए लोक ने स्वीकार कर लिया। इतिहास में ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिनके राज्याभिषेक इन्हीं नवीन पद्धतियों द्वारा हुए थे और जिन्हें विधिसम्मत समझा गया था।

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में एक ऐसी घटना का उल्लेख है जो इस सिद्धान्त की पुष्टि का ज्वलन्त प्रमाण है कि वैदिक युग में केवल राजन्य (क्षत्रिय) को ही राज्याधिकार प्राप्त था। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित यह घटना यह सिद्ध करती है कि वैदिक आर्य राज्याभिषेक के इस सिद्धान्त का पालन कठोरता से करते थे। यह घटना इस प्रकार है—एक पुरुष जिसकी माता वैश्य वर्ण की थी, राजपद प्राप्त करना चाहता था। परन्तु उसके राज्याभिषेक का निषेध केवल इस आधार पर कर दिया गया कि उसकी माता राजन्य वंश की नहीं थी अपितु वह वैश्य वर्ण के परिवार से उत्पन्न हुई थी। इसलिए वह राजपद पाने का वैध अधिकारी नहीं था।[1] उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राज्यों में राजपद प्राप्ति का अधिकार क्षत्रिय वर्ण तक ही सीमित था। क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न हुए पुरुष का ही राज्याभिषेक विधि-सम्मत समझा जाता था। अन्य वर्ण के पुरुष का राज्याभिषेक विधि-विरुद्ध माना जाता था। अन्य वर्ण राजपद के अधिकारी न थे। इस दृष्टि से वैदिक युग में आर्य राज्यों में राजपद अपने समकालिक अन्य जातियों के राजपदों की अपेक्षा विशेषतापूर्ण था। इस प्रकार वैदिक राजा की नियुक्ति का सर्वप्रथम सिद्धान्त यह था कि राजपद का वैध अधिकारी क्षत्रिय मात्र है।

(ख) ब्रह्मनियंत्रित राजपद

वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार आर्य राज्यों में वैश्य वर्ण मात्र प्रजा

१. तस्माद्वैश्यीपुत्रं नाभिषिंचन्ति। ८।१।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।

की श्रेणी में परिगणित किया गया है। यही कारण है कि वेदों में प्रजा को विश् की संज्ञा दी गयी है। 'प्रजा राजा के लिए नमन करे अथवा नमन करती है'—वेदों में यह व्यवस्था जहाँ कहीं भी दी गयी है, प्रजा को "विश्" कहकर सम्बोधित किया गया है। वैदिक आर्य राज्य का सम्पूर्ण आर्थिक भार विश् पर ही निर्भर था। सम्पत्ति का उत्पादन, उसकी वृद्धि और उसको भोग-योग्य बनाना आदि विश् का ही एक मात्र कर्त्तव्य माना गया था।

वैदिक आर्य राज्यों में प्रभुता ब्रह्म में वास करती थी। इसलिए ब्रह्म वैध रूप में प्रभुता सम्पन्न समझा जाता था। वही राज्य का वैध अधिकारी था। ब्रह्म का प्रतीक ब्राह्मण था। इस प्रकार वैदिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार ब्राह्मण में राज्य की प्रभुता थी। प्रभुता के इस सिद्धान्त की पुष्टि मनु ने भी दूसरे शब्दों में की है। मनु ने मानवधर्मशास्त्र में स्पष्ट व्यवस्था दी है—जो कुछ भी इस जगत् में है वह सब ब्राह्मण का ही है। ब्रह्मोत्पत्ति रूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण सब कुछ ग्रहण करने का अधिकारी है।[1] वेदों में यह स्पष्ट कहा गया है कि वैध प्रभुता ब्राह्मण में ही वास करती है। परन्तु ब्राह्मण राज्य के सुशासन हेतु अपने इस अधिकार को सुयोग्य क्षत्रिय को सौंप देता था, और उसे स्पष्ट आदेश दे देता था कि वह यह पृथिवी (राज्य) उसे इस प्रतिबन्ध के साथ दे रहा है कि वह इसमें सुशासन की स्थापना करेगा और राज्य के निवासियों को भयमुक्त रखेगा। यदि वह अपने इस कर्त्तव्य पालन में लेश मात्र भी असावधानी बरतेगा अथवा प्रमाद करेगा, उससे वह राज्य छीन लिया जायगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि अथर्ववेद में इस प्रकार की गयी है—इस पृथिवी का पति एक मात्र ब्राह्मण है। क्षत्रिय तथा वैश्य इसका अधिकारी अथवा स्वामी नहीं है।[2] ब्राह्मण ने अपनी यह पृथिवी (राज्य) क्षत्रिय को इसकी रक्षा एवं इसके सर्वांग विकास हेतु प्रदान की है। परन्तु वह क्षत्रिय इस पृथिवी का भक्षण कदापि न करे। क्षत्रिय द्वारा पृथिवी के भक्षण करने का निषेध अथर्ववेद ने इस प्रकार किया है—हे राजन्! ब्राह्मणों ने यह पृथिवी तुझे इसका भोग करने के लिए नहीं दी है। ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त इस पृथिवी की हिंसा न करना।[3]

महाभारत में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। महाभारतकार के मता-

१. १००।१ मानवधर्मशास्त्र। २. ५।१।५ अथर्ववेद।
३. १।१८।५ अथर्ववेद।

नुसार पृथिवी पर जो कुछ भी है वह सब ब्राह्मणों का है, क्योंकि वे ब्रह्मा के ज्येष्ट एवं श्रेष्ठ पुत्र हैं।[1] इसलिए राज्याधिकार उन्हीं को प्राप्त है। परन्तु वे धार्मिक कृत्यों और ज्ञानोपार्जन में इतने व्यस्त रहते हैं कि राज्य का संचालन नहीं कर सकते। इसलिए वे इस कार्यभार को अपने श्रेष्ठ एवं छोटे भाई को सौंप देते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय अथवा हिन्दू समाज में वह वर्ग, जो वीरता के लिए वंशपरम्परा से प्रसिद्ध है राज्य का वास्तविक शासक (ब्राह्मण की देख-रेख एवं उसके संरक्षण में) बन जाता है। ब्राह्मण पुरोहित तथा मंत्री के रूप में उसके समीप रहकर उसे निरन्तर सचेत एवं सावधान करते हुए उसका पथ-प्रदर्शक बनकर कार्य करता रहता है।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं के अनुसार राजपद का निर्माण लोक में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना, उसकी सम्यक् रक्षा और उसके सर्वांग विकास हेतु किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा राज्य का स्वामी नहीं है। राज्य का वैध स्वामी ब्राह्मण है। ब्राह्मण अपनी इस निधि (राज्य) को उसकी सम्यक् रक्षा एवं उसके सर्वांग सम्यक् विकास हेतु क्षत्रिय को सौंप देता है और इस प्रकार वह क्षत्रिय राजा बन जाता है। परन्तु यदि क्षत्रिय (राजा) अपने इस कर्तव्य-पालन में लेशमात्र भी उपेक्षा अथवा प्रमाद करता है तो ऐसी दशा में वह राजपद धारण करने के अपने अधिकार से वंचित हो जाता है और उसे उस राजपद से तुरन्त पदच्युत कर देना चाहिए। इस प्रकार वैदिक युग में ब्राह्मण प्रभुतासम्पन्न था। उसी में राज्य की प्रभुता वास करती थी। ब्राह्मण राजकर्ता था और अपने उस वैध अधिकार द्वारा प्रस्तावित राजा की नियुक्ति करता था, राजा की नियुक्ति के अवसर पर वह (ब्राह्मण) वैध रूप में राजा के अधीन न होने की घोषणा करता था। प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर एकत्र जनसमूह के समक्ष ब्राह्मण पुरोहित स्पष्ट एवं उच्च स्वर में जो घोषणा करता था उस का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है—सद्योऽभिषिक्त यह क्षत्रिय प्रजा (विश्) का राजा हुआ। हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।[2]

इस प्रकार वैदिक राजपद ब्रह्मनियंत्रित था। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ब्राह्मण राजाज्ञा की अवहेलना करने का अधिकारी था; और इसलिए वह राजा द्वारा स्थापित प्रशासन व्यवस्था के बाहर था। ब्राह्मण उसी दशा में राजाज्ञा की अवहेलना करने का अधिकारी था जब कि राजा उन प्रणों एवं प्रतिज्ञाओं को भंग

१. १२।६६ शान्तिपर्व, पी० पी० शास्त्री द्वारा संकलित। २. ४०।९ यजुर्वेद।

करता हो जिनके अनुसार ब्राह्मण की निधि रूप में राज्य उसे सौंपा गया था। अर्थात् वह विधिविरुद्ध शासन करना प्रारम्भ कर देता हो और इस प्रकार अपने पद का दुरुपयोग करता हो। ऐसी परिस्थिति के आ जाने पर ब्राह्मण अपने इस विशेषाधिकार के उपयोग करने का अधिकारी हो जाता था और अपने इस विशेषाधिकार का उपयोग कर विधिविरुद्ध शासन करने वाले राजा को पदच्युत कर देता था और उसके स्थान पर अन्य सुयोग्य क्षत्रिय का राज्याभिषेक कर उसे राजपद पर आसीन कर देता था। ब्राह्मण द्वारा किया गया यह कार्य सर्वांश में वैध समझा जाता था।

ब्राह्मण और राजन्य के इस सम्बन्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा वैदिक साहित्य में की गयी है। यजुर्वेद में ब्राह्मण और राजन्य के इस सम्बन्ध की प्रशंसा करते हुए एक प्रसंग में इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—जहाँ ब्राह्म बल तथा क्षात्र बल परस्पर सहयोग से एक दूसरे के सहायक बनकर विचरते हैं तथा ब्राह्मण अग्रनायक (राजा) के साथ सहयोग करते है, उस लोक (राज्य) को पुण्यवान् (सर्वसुख सम्पन्न) समझता हूँ।[1]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक राजपद ब्रह्मनियंत्रित था और ब्राह्मण के भय एवं उसके प्रभाव के कारण क्षत्रिय (राजा) अपने कर्त्तव्य-पालन में तत्पर रहता था। इस योजना का निर्माण लोक कल्याण की दृष्टि से किया गया था।

मध्यकालिक यूरोप में भी ईसाई राज्यों में राजपद पोप के नियंत्रण में (Under the Control of the Church) कर दिया गया था और राजा पोप की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता था। इस प्रकार इन राज्यों में भी पोप-नियंत्रित राजपद के सिद्धान्त का आयोजन किया गया था और इस सिद्धान्त का पालन भी यथासम्भव कुछ समय तक किया जाता रहा। परन्तु उनकी यह योजना ब्रह्म-नियंत्रित राजपद की वैदिक योजना से नितान्त भिन्न थी। पोप-नियंत्रित राजपद का उद्देश्य ईसाई धर्म प्रचार एवं धर्मप्रधान राज्य (Theocratic State) का निर्माण करना था। परन्तु वैदिक योजना में यह बात न थी। राजपद की वैदिक योजना का उद्देश्य सुशासन की स्थापना करना था। वैदिक योजना के अनुसार राजा की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाया गया था जिससे राजा अपने अधिकारों एवं पद के दुरुपयोग करने से वंचित रखा जा सके। इस वैदिक योजना के अन्तर्गत यह व्यवस्था

१. २५।२० यजुर्वेद।

कर दी गयी थी कि राज्य राजा की निजी सम्पत्ति कदापि न समझा जाय; और इस प्रकार वह राज्य के भोग करने के अधिकार से वंचित रखा गया था। राज्य उसके अधीन ब्राह्मण की निधि मात्र था जिसकी सम्यक् रक्षा, सुव्यवस्था और जिसका सम्यक् विकास एवं सम्यक् वृद्धि करना मात्र उसका कर्तव्य था और यही उसका अधिकार भी था। इससे अधिक नहीं।

इस प्रकार ब्रह्म-नियंत्रित राजपद का सिद्धान्त वैदिक ऋषियों की विशेष एवं अनुपम योजना थी। इस सिद्धान्त के अनुसार वही क्षत्रिय राजपद पाने का अधिकारी था जो इस योजना के अनुसार आचरण करने मे समर्थ था।

(ग) वरणशील राजपद सिद्धान्त

वैदिक राजपद का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण उसका वरणशील स्वरूप होना था। वैदिक सहिताओं मे अनेक ऐसे प्रसग है जिनमे राजा के वरण करने के निमित्त प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद मे प्रसंगवश यत्र-तत्र कतिपय मंत्रों में इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु स्पष्ट सकेत प्राप्त है। इन सकेतों में कुछ इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद के एक मत्र में राजा के वरण करने के निमित व्यवस्था दी गयी है। इस प्रसंग मे बतलाया गया है कि भय से त्रस्त लोग अपने भय से मुक्त होने के लिए राजा का वरण करते है।[1] ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक मंत्र में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए व्यवस्था दी गयी है—हे प्रस्तावित राजन् ! राष्ट्रवासी (विश्) तेरी कामना करते हैं। तू अचल होकर राजपद पर आसीन रहे। तू इस पद से भ्रष्ट न हो।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय आर्य राज्यों में राजपद का स्वरूप वरणशील था।

यजुर्वेद में भी कतिपय ऐसे मंत्र हैं जिनमें राजा का वरण किया जाना चाहिए इस सिद्धान्त की पुष्टि की ओर संकेत किये गये हैं। यजुर्वेद में राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों का उल्लेख कई स्थलों पर प्राप्त है। राज्याभिषेक सम्बन्धी इन कृत्यों में एक कृत्य यह भी बतलाया गया है कि राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित जन-समारोह के समक्ष पुरोहित द्वारा स्पष्ट एवं उच्च स्वर में घोषणा करने की व्यवस्था हो। इस घोषणा द्वारा पुरोहित घोषित करता था कि अमुक क्षत्रिय राष्ट्र का राजा बनाया गया। इस घोषणा का एक अंश यह भी होता था कि उक्त क्षत्रिय को राजपद पर

१. १४।२३।१ ऋग्वेद। २. ११७३।१० ऋग्वेद।

आसीन करने के लिए राष्ट्रवासियों के विविध वर्ग के लोगों की अनुमति प्राप्त की जा चुकी है। यजुर्वेद के एक प्रसंग में इस घोषणा का स्वरूप इस प्रकार है—हे भावी राजन्! मैं (पुरोहित) जल और ओषधियों से तेरा अभिषेक कर रहा हूँ। तेरी माता, तेरा पिता, तेरे सहोदर भाई, तेरे मित्र गण और तेरे वृन्द के लोग इस कार्य का अनुमोदन करते हैं।[1] यजुर्वेद के इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आर्य राजा की नियुक्ति में उसके माता पिता, सहोदर भाई, उसके सखा तथा राष्ट्रवासियों के विविध वर्गों के लोगों की अनुमति होनी चाहिए। इसी प्रकार यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में, इन्द्र-पद (राजपद) पर आसीन होने के लिए राष्ट्रवासियों की अनुमति होनी चाहिए, इस सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। इस से ज्ञात होता है कि इन्द्रपद पर आसीन होने के लिए राष्ट्रवासियों की ओर से पुरोहित द्वारा अनुमति देने की व्यवस्था थी। इस विषय में यजुर्वेद में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—राष्ट्रवासियों द्वारा वरण किये गये तुझ प्रीतियुक्त को इन्द्र-पद के लिए ग्रहण करता हूँ।[2]

संहिता कालिक राजपद का स्वरूप वरणशील था; इस सिद्धान्त की पुष्टि अथर्ववेद में कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में की गयी है। अथर्ववेद के इसी प्रसंग में एक स्थल पर स्पष्ट बतलाया गया है कि समिति द्वारा राजा की नियुक्ति की जाती है।[3] अथर्ववेद के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वैदिक राजा का वरण राष्ट्रवासियों की अनुमति पर निर्भर था। ऋग्वेद में वर्णित इस सिद्धान्त को कि राजा का वरण राष्ट्रवासियों द्वारा किया जाना चाहिए, अथर्ववेद में लगभग उन्हीं भावों को पुनः व्यक्त करते हुए दुहराया गया है—सम्पूर्ण प्रजा तेरी कामना करे (करती है)! तू राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।[4] इसी प्रसंग में यह भी प्रार्थना की गयी है कि सम्पूर्ण राज्य के संचालन हेतु हम भावी राजा का वरण करें (करते हैं)।[5] अथर्ववेद के एक अन्य स्थल पर इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—सभी को कम्पित कर देने वाले (भयभीत कर देने वाले) क्षत्रिय को मनुष्य उसी प्रकार अपना राजा बना लेते हैं जिस प्रकार तारा गण चन्द्रमा को अपना राजा बनाते हैं।[6]

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं के अनुसार राजपद वरणशील (Elactive) समझा जाता था। राजपद रिक्त होने पर उस पद

१. ९।६ यजुर्वेद। २. २।९ यजुर्वेद। ३. ३।८८।६ अथर्ववेद।
४. १।८७।६ अथर्ववेद। ५. २।८७।६ अथर्ववेद। ६. १।१२८।६ अथर्ववेद।

के अनुरूप गुण, योग्यता आदि से सुसम्पन्न पुरुष की खोज की जाती थी। इस खोज के आधार पर प्राप्त पुरुष का वरण राजपद के निमित्त किया जाता था। परन्तु इस सिद्धान्त के कार्यान्वित होने में यह प्रतिबन्ध आवश्यक था कि राजपद हेतु वरण किया गया पुरुष राजन्य (क्षत्रिय) होना चाहिए। राजन्य के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को राजपद हेतु अभिषिक्त किया जाय, इसका निषेध किया गया है।

इसमें संदेह नही कि उत्तर वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे राजाओं का उल्लेख है जो वंशानुगत हुए थे। शतपथ ब्राह्मण में पौंसायन-पुत्र राजा दुष्टरीतु का संक्षिप्त परिचय दिया हुआ है। इस परिचय में दुष्टरीतु को उसके राजवंश में दसवाँ राजा बतलाया गया है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक काल में राजपद के अधिकारी का निर्णय वंशानुगत सिद्धान्त के आधार पर होने लगा था। परन्तु इस सिद्धान्त के पालन में भी राष्ट्रवासियों की स्वीकृति वांछनीय थी। भावी राजा की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का पूर्ण अधिकार जनता को प्राप्त था और यह भी अनिवार्य था कि भावी राजा को राजपद तभी प्राप्त हो सकता है जब कि राज्य की जनता की स्वीकृति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्राप्त कर ली गयी हो।

इस प्रकार राज्य की जनता की स्वीकृति की इस अनिवार्यता ने वैदिक आर्य राजा के वरणशील स्वरूप के सिद्धान्त की आत्मा पूर्ववत् जीवित रखी।

(घ) विशिष्ट गुण एवं योग्यता सिद्धान्त

वैदिक संहिताओं के अनुसार सामान्यतः सभी राजन्य राज्याधिकारी कोटि में परिगणित किये गये हैं। परन्तु क्रियात्मक क्षेत्र में ऐसा देखा जाता है कि सभी पुरुष एक ही कार्य के सम्पादन की समान योग्यता एवं क्षमता नहीं रखते। कार्य विशेष के लिए तदनुसार योग्यता एवं गुणसम्पन्न विशेष पुरुष की आवश्यकता अनिवार्य है। अतः सभी राजन्य वैध रूप में राज्याधिकारी होने पर भी राजपद धारण करने के योग्य नहीं होते। सभी राजन्य राज्य के सम्यक् संचालन की क्षमता नहीं रखते। इसलिए यह आवश्यक समझा गया था कि राजपद धारण करने की योग्यता एवं तत्सम्बन्धी गुण-सम्पन्न राजन्य को राजपद दिया जाना चाहिए। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु वैदिक आर्य

१. दुष्टरीतुर्ह पौंसायनः। दशपुरुषं राज्यादपरुद्ध आस। १२।९।३।१ शतपथ ब्राह्मण।

राज्यों में राजपद प्राप्ति के लिए विशिष्ट गुण एवं योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं, यद्यपि इनका उल्लेख संकेत रूप में ही हुआ है।

वास्तव में बात तो यह थी कि उस संघर्ष के युग में जब कि वैदिक आर्य अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास, प्रसार एवं उसकी संस्थापना, रक्षा और अपने समाज में शान्ति व्यवस्था की सम्यक् स्थापना में निरन्तर संलग्न थे, उन्हें ऐसे गुण सम्पन्न एवं योग्य राजा की नितान्त आवश्यकता थी जो उनके इन कार्यों के विधिवत् सम्पादन में सक्रिय सहयोग देने में समर्थ हो। उनके इन महान् कार्यों के विधिवत् सम्पादन में सक्रिय सहयोग देने में समर्थ होने के लिए ऐसे राजा में प्रशासनिक दक्षता एवं योग्यता के साथ-साथ बल, पौरुष, अदम्य साहस, शौर्य आदि गुणों का होना आवश्यक था। यही कारण था कि वैदिक आर्यों के आदर्श राजा इन्द्र को इन समस्त गुणों एवं योग्यताओं का धारण करने वाला बतलाया गया है। वैदिक संहिताओं में इन्द्र का यह स्वरूप स्थान-स्थान पर वर्णित है।

अथर्ववेद के भूमि-सूक्त में उन गुणों का संक्षेप में उल्लेख है जिनके आधार पर भूमि (राज्य) धारण की जा सकती है। अथर्ववेद के इस सूक्त के अनुसार ये गुण बृहत् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ हैं।[1] अथर्ववेद में प्राप्त इस संकेत से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने आर्य राजा के लिए इन गुणों का धारण करना अनिवार्य निर्धारित किया है। अथर्ववेद के अनुसार इन गुणों में एक गुण का भी अभाव होने से राजा राजपद धारण करने के अयोग्य हो जाता है।

अथर्ववेद में दी गयी राजा के निमित्त गुणों की इस सूची में सबसे प्रथम स्थान सत्य को दिया गया है। इस सत्य का स्वरूप संकीर्ण नहीं है। वह व्यापक है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक उसका प्रवेश है। इसीलिए उसे बृहत् सत्य (सत्यं बृहत्) की संज्ञा दी गयी है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य के सभी प्राणियों एवं मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य का पालन किया जाना चाहिए। राज्य की प्रत्येक क्रिया का आधार सत्य होना चाहिए। राज्य की आभ्यन्तर तथा बाह्य नीति सत्य व्यवहार एवं सत्य आचरण पर स्थिर होनी चाहिए।[2] अथर्ववेद की इस सूची में दूसरा अनिवार्य गुण ऋत है। वह भी सामान्य ऋत नहीं अपितु उग्र ऋत है। ऋत का तात्पर्य मन

१. १।१।१२ अथर्ववेद। २. सत्यं वाचा यथार्थ-भाषणम्।

के यथार्थ संकल्प से है।[1] इसका अर्थ यह है कि राज्य के प्राणियों के मानसिक संकल्प सत्य पर आश्रित होने चाहिए। इसका तात्पर्य यह भी है कि राजा में अपने अधीन राज्य के भीतर ऐसी व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता होनी चाहिए जिससे ऐसे नियमों एवं विधियों का पालन अपने अधीन प्रजा से कराने में वह समर्थ हो सके जिनकी उत्पत्ति सत्य संकल्पों से हुई है। वे सत्य संकल्प अचल एवं अडिग होने चाहिए। इस प्रकार वैदिक राजनीतिक विचार-धारा के अनुसार राजा में दृढ सत्य संकल्प (ऋतमुग्रम्) उत्पन्न होने की क्षमता एव सामर्थ्य होनी चाहिए। राजा में तीसरा गुण दीक्षा बतलाया गया है। राजा अपने कर्तव्यों के पालन हेतु दीक्षित होना चाहिए। उसे स्वयं प्रत्येक प्रकार की उस समस्त सामग्री अथवा उन सभी साधनों से सुसज्जित रहना चाहिए जो सामग्री एवं साधन उसके कर्तव्य पालन हेतु वांछनीय होते हैं। चौथा गुण तप बतलाया गया है। तप का तात्पर्य संयमी जीवन व्यतीत करने से है। अर्थात् राजा का जीवन संयमी होना चाहिए, उसका आचरण एव व्यवहार नियमबद्ध होना चाहिए। राजा के लिए पाँचवाँ गुण ब्रह्म बतलाया गया है। ब्रह्म वैदिक भाषा का एक विशेष शब्द है जिसको लौकिक भाषा में विद्या (Learning) कहते हैं। भावार्थ यह है कि वैदिक राजा के लिए विद्या अथवा ज्ञान की प्राप्ति अनिवार्य है। इसके अनुसार राजा विद्वान् एव ज्ञानी होना चाहिए। अविद्वान् तथा अज्ञानी क्षत्रिय राजपद-प्राप्ति हेतु अयोग्य है। राजा के लिए, अथर्ववेद के अनुसार, अन्तिम गुण यज्ञ बतलाया गया है। श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ की संज्ञा दी जाती है।[2] इसलिए राजा श्रेष्ठ कर्म करने वाला क्षत्रिय होना चाहिए।

इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार वैदिक राजा के अनिवार्य गुण व्यापक सत्य (बृहत् सत्य), दृढ़ संकल्प (ऋतमुग्रम्), दीक्षा, तप, विद्या तथा ज्ञान और श्रेष्ठ कर्म करने की प्रवृत्ति है।

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राजा के लिए वांछनीय गुण प्रशासनिक दक्षता एवं योग्यता, बल, पौरुष, अदम्य साहस आदि तथा उसके व्यवहार एवं आचरण में सत्यता, दृढ़ता एवं स्थायी सत्य संकल्प,

१. ऋतम् मनसा यथार्थ-संकल्पनम्। २. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म इति श्रुतिः। महीधर यजुर्वेद-भाष्य, मंत्र १ अ० १।

दीक्षा, तप, विद्या एवं ज्ञान (ब्रह्म) और श्रेष्ठ कर्म करने की प्रवृत्ति हैं। राजा इन्हीं सब गुणों को धारण करने पर राज्य के सम्यक् संचालन में सफल होगा, ऐसा वेद-मत है।

(ङ) राज्याभिषेक सिद्धान्त

वैदिक आर्य राज्यों में राजपद-प्राप्ति हेतु एक और महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध था। वह प्रतिबन्ध प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के रूप में था। इसके अनुसार राजपद-प्राप्ति हेतु प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक होना अनिवार्य कृत्य था। वैदिक आर्यों की दृष्टि में अनभिषिक्त राजा निन्दनीय एवं अवैध होता था।[1] अनभिषिक्त राजा आर्य राज्यों में राजपद धारण करने का अधिकारी न था। इसलिए राजपद पर आसीन होने के पूर्व राजपद के लिए वरण किये गये क्षत्रिय को अपना राज्याभिषेक विधिवत् एवं नियमानुसार करा लेना अनिवार्य था। राज्याभिषेक हो जाने पर साधारण क्षत्रिय भी श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वेदमत है। इन्द्र देवों में छोटा और सामान्य देव था। परन्तु राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त वही देवों में श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ बन गया, और उन का राजा (देवराज) बनकर सभी देवों पर शासन करने लगा। शतपथ ब्राह्मण में भी इस तथ्य की पुष्टि की गयी है कि राज्याभिषेक श्रेष्ठता का आधार है। उसमें स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि राज्याभिषेक श्रेष्ठता का कारण होता है।[2] शतपथ ब्राह्मण में दी गयी इस व्यवस्था का तात्पर्य यह है कि सभी क्षत्रिय (राजन्य) सामान्यतः समान होते हैं। परन्तु राजपद के लिए जिस क्षत्रिय का राज्याभिषेक हो जाता है वही राजा बन जाता है और लोक पर शासन करने का वैध अधिकारी हो जाता है।

यजुर्वेद वैदिक कर्मकाण्डप्रधान वेद माना जाता है। इस वेद में विविध प्रकार के यज्ञों का उल्लेख एवं उनके कृत्यों का संक्षिप्त वर्णन दिया हुआ है। इन यज्ञों में राज्याभिषेक सम्बन्धी यज्ञ भी है। उसमें राज्याभिषेक सम्बन्धी प्रक्रिया एवं तत्सम्बन्धी कृत्यों का भी उल्लेख है। राज्याभिषेक के अवसर पर विधिवत् वरण किये गये ब्राह्मण पुरोहित को आर्य जनता के विविध वर्गों के प्रतिनिधियों के समक्ष राज्याभिलाषी क्षत्रिय से उसके राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों को विधिवत् सम्पन्न कराने और तदुपरान्त

१. १, २।१०।२।२ तैत्तिरीय ब्राह्मण। २. तमेनमभ्यषिचंस्ततो वै स देवानां श्रेष्ठो ऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एवमभिषिच्यते।

उसके राज्याभिषेक करने की व्यवस्था दी गयी है। यजुर्वेद के इसी विषय से सम्बन्धित एक प्रसंग में ब्राह्मण पुरोहित राज्याभिषेक-निमित्त दीक्षित क्षत्रिय से यज्ञ कराता हुआ वर्णित है। इस अवसर पर यज्ञ की वेदी पर बैठा हुआ ब्राह्मण पुरोहित, यज्ञाग्नि में आहुति देते हुए उस क्षत्रिय को राज्य प्रदान किया जाय, इस विषय का प्रस्ताव करता हुआ प्रार्थना करता है। पुरोहित द्वारा की जाने वाली प्रार्थना का स्वरूप इस प्रकार है—हे सेचन-जलतरंग ! तू राष्ट्र देने वाली (राष्ट्रदा) है, अमुक (क्षत्रिय) के लिए राष्ट्र प्रदान कर।[1] यजुर्वेद के इस मंत्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि राज्याभिषेक सम्बन्धी यज्ञ की समाप्ति हो जाने पर राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्य का सम्पादन किया जाता था और इस कृत्य के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त उस क्षत्रिय को राजपद दिया जाता था। इसके पूर्व कदापि नहीं। यही कारण है कि प्रस्तावित राजा के लिए इस प्रसंग में अमुक (अमुष्मै) शब्द का प्रयोग हुआ है, जो यह स्पष्ट कर देता है कि राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों के सम्पन्न होने के पूर्व प्रस्तावित राजा सामान्य क्षत्रिय रहता है। राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त वही सामान्य क्षत्रिय ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है और इस लोक में राजा बन जाता है।

इस प्रकार राज्य-प्राप्ति हेतु प्रस्तावित राजा द्वारा तत्सम्बन्धी यज्ञ का सफल अनुष्ठान और तदुपरान्त उसका राज्याभिषेक हो जाना अनिवार्य था। इसलिए यह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक आर्य राज्यों में राजपद की प्राप्ति हेतु राज्याभिषेक की अनिवार्यता के सिद्धान्त का पालन कठोरता से किया जाता था।

(च) राजकीय शपथ

राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में प्रस्तावित राजा द्वारा शपथ ग्रहण करने का कृत्य भी महत्वपूर्ण होता था। इस कृत्य के सम्पन्न हुए बिना राज्याभिषेक अपूर्ण माना गया है। उत्तर वैदिक युग में इस शपथ की शब्दावली निश्चित हो चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस शपथ की शब्दावली आज भी ज्यों की त्यों प्राप्त है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजकीय शपथ की जो शब्दावली दी हुई है हिन्दी भाषा में उसका भावानुवाद इस प्रकार है—यदि मैं तेरे (जनता के प्रतिनिधि रूप में ब्राह्मण पुरोहित के) प्रति द्रोह करूँ, तो जन्म काल से मृत्यु काल तक की अवधि में जो भी पुण्य कार्य मेरे द्वारा हुए हों, मेरा स्वर्ण, मेरा जीवन और मेरी सन्तति नष्ट हो जायें।

१. ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तस्वाहा। ३।१० यजुर्वेद।

ब्राह्मण साहित्य में राजकीय शपथ की जो उपर्युक्त शब्दावली दी हुई है उसका स्वरूप जनतांत्रिक है। इस शपथ के ग्रहण कर लेने के उपरान्त राजा प्रजाद्रोह के अधिकार से सर्वथा वंचित हो जाता था। उसे प्रजाभक्त रहते हुए राज्य का सम्यक् संचालन करना अनिवार्य था। प्रजाद्रोह करके वह शासन करने का लेश मात्र भी अधिकारी न रहता था।[1]

महाभारत में भी राजकीय शपथ का, जो कि प्रस्तावित राजा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर ग्रहण करता था, उल्लेख हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व के एक प्रसंग में सर्वप्रथम भारतीय राजा की उत्पत्ति का इतिहास दिया हुआ है। इस प्रसंग में ऐसा उल्लेख है कि पृथु सर्वप्रथम भारतीय राजा था। पृथु को राज्याभिषेक के अवसर पर राजकीय शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। राजा पृथु ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जो शपथ ग्रहण की थी उसकी शब्दावली महाभारत के शान्तिपर्व के इस प्रसग में दी हुई है। इस शपथ की शब्दावली का भाषानुवाद इस प्रकार है—मैं (पृथु) प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस भूमि (राज्य) को ब्रह्म समझ कर इसकी सदैव मन, वचन और कर्म से रक्षा करूँगा। दण्डनीति के अनुसार जो नित्य धर्म बतलाये गये है निर्भय होकर उनका पालन करूँगा; और कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं होऊँगा।[2]

इस प्रकार वैदिक युग में प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर जो शपथ उसे ग्रहण करनी पड़ती थी उसकी आत्मा के जीवित रखने का निरन्तर प्रयास हुआ है। राजकीय शपथ ग्रहण करने की वैदिक पद्धति का पालन कम से कम महाभारत के शान्तिपर्व के रचनाकाल तक अवश्य प्रचलित रहा और प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में राजकीय शपथ का ग्रहण किया जाना भी महत्वपूर्ण कृत्य होता था। यह कृत्य अनिवार्य था। इसके सम्पन्न हुए बिना प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक अपूर्ण माना जाता था।

१. यां च रात्रिं जाये ऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तंलोकं सुकृतमायुः प्रजां वृंजीथा यदि द्रुह्यासमिति। १५।३।८ ऐतरेय ब्राह्मण।

२. प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ १०६-७।५९ शान्तिपर्व महाभारत

(छ) समकालिक राजाओं द्वारा मान्यता का सिद्धान्त

आधुनिक युग में यदि किसी नवीन राज्य का उदय होता है तो उसके समकालिक राज्यों द्वारा उसे मान्यता देने का चलन है। उस नवोदित राज्य को जो राजा मान्यता देना अस्वीकार करता है उस राजा की दृष्टि में वह नवोदित राज्य वैध राज्य नहीं होता। आधुनिक युग में कई ऐसे नवोदित राज्य हैं जिन्हें विश्व के अनेक राज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त न होने के कारण उन राज्यों की दृष्टि में वे वैध राज्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए, रोडेशिया राज्य ऐसा ही है जिसे विश्व के अनेक राज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं है। इस प्रकार इस युग की राजनीति में समकालिक राज्यों द्वारा नवोदित राज्य की मान्यता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है।

उत्तर वैदिक साहित्य में भी इस सिद्धान्त के प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त की स्थापना के हेतु व्यवस्था दी गयी है। वह व्यवस्था इस प्रकार है—केवल वह राजा होता है जिसे उसके समकालिक अन्य राजा गण मान्यता प्रदान कर देते हैं। इसके विरुद्ध जिस राजा को उसके समकालिक अन्य राजाओं द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होती है वह राजा नहीं होता।[1] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध यह व्यवस्था इस सिद्धान्त की स्थापना करती है कि वैदिक आर्य राजा तभी वैध समझा जाता था जब कि वह अपने समकालिक अन्य राजाओं द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेता था, इसके पूर्व कदापि नही। इस दृष्टि से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रस्तावित राजा की नियुक्ति में समकालिक राजाओं द्वारा मान्यता (Recognition) प्राप्ति के सिद्धान्त का पालन किया जाना आवश्यक है।

(ज) घोषणा-सिद्धान्त

प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों के विधिवत् सम्पन्न हो जाने पर राज्याभिषेक समारोह में उपस्थित जन समुदाय के समक्ष ब्राह्मण पुरोहित द्वारा नवीन राजा के प्रकट होने की घोषणा की जाती थी। यह कृत्य भी अनिवार्य था। इस घोषणा का स्वरूप इस प्रकार था—हे मनुष्यो ! राजा प्रकट हुआ है। तुम सभी उससे परिचित (आविस) होकर उसका अनुमोदन करो। वह तुम्हारे लिए उसी प्रकार उपयोगी, उपकारी तथा तुम्हारा पालक है जैसे अग्नि गृहपतियों के लिए है (अग्नि-र्गृहपतिः), इन्द्र के समान विपुल धन का दाता (वृद्धश्रवा), कर्त्तव्य पालन में (धृत-

१. यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न।

व्रत) मित्र और वरुण के समान;[1] विविध प्रकार के ज्ञान को धारण करने में अथवा महान् धन के स्वामी (विश्ववेदा) होने में पूषा के समान; सभी के कल्याण करने में अथवा सुख देने में (विश्वशम्भुवौ) द्यु और पृथिवी के समान; और जो अपनी सन्तति रूप प्रजा के लिए माता (अदिति) के समान है।[2] इसी अवसर पर ब्राह्मण पुरोहित यह घोषणा भी करता था कि राजा, जिसका राज्याभिषेक द्वारा जन्म हुआ है, सम्पूर्ण प्रजा (विश्) का राजा है, परन्तु हम ब्राह्मणों का राजा सोम है(विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा)।[3]

इस प्रकार प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक संस्कार का एक अनिवार्य कृत्य राजपद के लिए अभिषिक्त राजा का लोक को परिचय देना होता था। लोक को विज्ञापित करने के लिए कि अमुक क्षत्रिय उनका राजा बनाया गया है, इस प्रकार उपस्थित जन समुदाय के समक्ष तत्सम्बन्धी घोषणा करने की प्रथा का पालन किया जाता था।

(ञ) दिग्विजय-सिद्धान्त

नूतन राजा की नियुक्ति हो गयी है, यह घोषणा हो जाने के उपरान्त उस राजा के लिए दिग्विजय के निमित्त प्रस्थान करने की व्यवस्था वेदों में दी गयी है। यजुर्वेद में इस व्यवस्था का उल्लेख है। इस उल्लेख में इस व्यवस्था की ओर इस प्रकार संकेत किया गया है—हे राजन्! राष्ट्रविरोधी और प्रजा को क्लेश देने वाले (दन्दशूक) प्राणियों के नाश के निमित्त पूर्व दिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[4] तू दक्षिण दिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[5] तू पश्चिम दिशा की विजय के लिए प्रस्थान कर।[6] तू उत्तर दिशा की विजय हेतु प्रस्थान कर।[7] हे राजन्! तू ऊर्ध्व दिशा की विजय के निमित्त प्रस्थान कर।[8]

इस प्रकार प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक हो जाने के उपरान्त राजा का परिचय देने के लिए अर्थात् राजा का आविर्भाव हो गया है इस तथ्य के विज्ञापन हेतु ब्राह्मण पुरोहित द्वारा घोषणा की जाती थी और तदुपरान्त उसे अपने अधीन राज्य के शत्रुओं एवं दुष्ट जनों के दमन हेतु दिग्विजय के लिए प्रस्थान करना चाहिए, इस कृत्य

१. व्रतमिति कर्मणाम्। ९।१० यजुर्वेद (महीधर भाष्य)।
२. ९।१० यजुर्वेद। ३. ४०।९ यजुर्वेद। ४. १०।१० यजुर्वेद।
५. ११।१० यजुर्वेद। ६. १२।१० यजुर्वेद। ७. १३।१० यजुर्वेद।
८. १४।१० यजुर्वेद।

के करने की प्रथा थी। इस कृत्य के अन्तस्तल में यह सिद्धान्त निहित था कि नूतन राजा में अपने अधीन प्रजा की रक्षा करने की समुचित सामर्थ्य है या नहीं। उसे अपने इस शौर्यपूर्ण एवं साहसी कार्य द्वारा सिद्ध कर देना चाहिए कि उसमें, जो राज्य उसे निधि रूप में सौंपा गया है, उसके सम्यक् संचालन एवं उसकी सभी ओर से रक्षा करने तथा शत्रुदमन कार्य के सम्पन्न करने की प्रत्येक प्रकार की सामर्थ्य है। जो राज्यभार उसे सौंपा गया है उसका कुशलता एवं योग्यता से वह वहन कर सकता है। दिग्विजय के उपरान्त उसे अपने अधीन प्रजा के परिपालन एवं उसके परिरक्षण कार्य में संलग्न हो जाना चाहिए।

राज्य-च्युत राजा की पुनः स्थापना

निष्कासित अथवा पदच्युत राजा को उसके पद की पुनः प्राप्ति हेतु एक विशेष यज्ञ करने का विधान वैदिक साहित्य में किया गया है। इस यज्ञ को सौत्रामणि यज्ञ के नाम से सम्बोधित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक आख्यान है जिससे इस कथन की पुष्टि होती है। वह आख्यान इस प्रकार है—ककर स्थपति ने, दस पीढ़ियों से जिसका राजवंश चला आ रहा था, ऐसे पदच्युत राजा दुष्टरीतु पौंसायन से कहा कि वह उसके निमित्त सौत्रामणि यज्ञ करेगा, और तदनुसार उसे उसके पद पर पुनः स्थापित करेगा।[1] उसके राज्य का अपहरण सृंजयों द्वारा किया गया था। शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त इस आख्यान से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्यों में पदभ्रष्ट अथवा पदच्युत आर्य राजा की पुन. स्थापना का भी चलन था। ऐसे राजा की उसके पद पर पुनः स्थापना हेतु एक विशेष प्रकार का यज्ञ किया जाता था जिसे शतपथ ब्राह्मण में सौत्रामणि यज्ञ की संज्ञा दी गयी है।

अथर्ववेद में कई ऐसे मंत्र हैं जिनमें पदच्युत अथवा राज्य भ्रष्ट राजा को उसके पद पर पुनः आसीन करने के निमित्त प्रार्थना की गयी है। इन मंत्रों में भी सौत्रामणि यज्ञ द्वारा पदच्युत राजा की उसके पद पर पुनः स्थापना करने की ओर संकेत है। इन मंत्रों में कुछ का भाषानुवाद इस प्रकार है—राज्यभ्रष्ट हे राजन्! राजा वरुण तुझे जल (सागर, नदी, सरोवर आदि) से, सोम पर्वतों से और इन्द्र तुझे उन प्रजाजनों से बुलाये (विड्भ्यः) जिनमें तू आज-कल निवास कर रहा है। इस प्रकार तू उन देवताओं के बुलाने पर अपनी पूर्वपालित प्रजा में प्रवव्य होकर श्येन की गति से शीघ्र

१. २।३।९।१२ शतपथ ब्राह्मण।

आ जा।[1] दूसरे की भूमि (क्षेत्र) में अथवा शत्रु-राज्य में शत्रु द्वारा रोके गये (परस्मादन्यक्षेत्रे अवरुद्धं चरन्तम्) हे राजन्! तू पर-भूमि से (परस्मात्) आ जा (आ नयतु)। अश्विनी देव तेरे मार्ग को सुगम करें (कृणुतां सुगम्)। उसके बन्धुगण अथवा उसके राज्य के निवासी (सुजाताः) लौट कर आये हुए अपने उस राजा से मिलकर उसका सेवन करें (त इमं सजाता अभि सं विशध्वम्)।[2] हे राजन्! (निष्कासित अथवा पदच्युत राजन्) जो तेरी प्रजा तेरे प्रतिकूल थी (प्रतिजनाः), वह तुझे बुलाये (ह्वयन्तु), तेरे मित्र जो तेरे प्रतिकूल हो गये थे (प्रतिमित्राः) वे विरोध का त्याग कर तुझ से पुनः प्रेम कर (अमूषत)। इन्द्र, अग्नि और विश्वदेव प्रजा के क्षेम की सामर्थ्य तुझमें स्थापित करें (ते विशि क्षेममदीधरन्)। हे राजन्! तेरे पुनः राजपदग्रहण के अनुमोदन पर सम बल वाला (सजाताः) अथवा न्यून बल वाला (निष्टयः) अन्य जो कोई विवाद करे अर्थात् विरोध करे (विवदत्), हे इन्द्र! इन सब प्रकार के उस के शत्रुओं को दूर कर अथवा बहिष्कृत करके इस राजा को प्रसिद्ध कीजिए।[3]

अथर्ववेद में भी पदच्युत अथवा निष्कासित राजा को उसके पूर्व पद पर पुनः स्थापना हेतु सौत्रामणि नामक यज्ञ के सम्पन्न करने की ओर संकेत किया गया है (सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः)।[4]

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राज्यों में पदच्युत अथवा राज्यभ्रष्ट वा निष्कासित राजा की आवश्यकतानुसार एवं परिस्थितियों के अनुकूल उसके पूर्व पद पर पुनः स्थापना करने का चलन था। पदच्युत अथवा राज्यभ्रष्ट वा निष्कासित राजा अपने पूर्व पद की प्राप्ति हेतु सौत्रामणि नामक यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान करता था। सौत्रामणि सम्पन्न कर लेने के उपरान्त ब्राह्मण पुरोहित उसके पूर्व राजपद पर उसे आसीन करता था और इस प्रकार वह पुनः अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त कर लेता था।

राजा की विविध उपाधियाँ

वैदिक साहित्य में राजा की विविध उपाधियों की ओर संकेत किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि उपाधियों को धारण करने के आधार पर वैदिक राजा अपनी

१. ३।३।३ अथर्ववेद। २. ४।३।३ अथर्ववेद। ३. ५।३।३ अथर्ववेद।
४. ६।३।३ अथर्ववेद। ५. २।३।३ अथर्ववेद।

इन विविध उपाधियों के अनुसार विविध श्रेणियों में परिगणित किये जाते थे। वैदिक संहिताओं में राजा की ये विविध उपाधियाँ राजा, सम्राट्, भोज, स्वराट्, विराट्, महाराज, अधिपति, परमेष्ठी आदि नामों से उल्लिखित हैं। यजुर्वेद के कई मंत्रों में इन उपाधियों में कतिपय उपाधियों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में राजा की इन उपाधियों का स्पष्ट वर्णन है।[2] ब्राह्मण साहित्य में राजा की इन विविध उपाधियों में कतिपय उपाधियों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। इसके अनुसार इन उपाधियों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

राजा—राज्य के उच्चतम शासक के लिए राजा सामान्य पद था। क्षत्रिय राजसूय यज्ञ के विधिवत् अनुष्ठान द्वारा तत्सम्बन्धी सभी आवश्यक कृत्यों को सम्पन्न कर राजा की उपाधि से विभूषित एवं राजपद पर आसीन किया जाता था। इस प्रकार क्षत्रिय राजपद ग्रहण कर राज्य का स्वामी बनता था। शतपथ ब्राह्मण में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए व्यवस्था दी गयी है कि राजसूय यज्ञ के विधिवत् सम्पन्न कर लेने के उपरान्त क्षत्रिय का राज्याभिषेक किया जाता था। इस विधि से अभिषिक्त क्षत्रिय राजा कहलाता था।[3]

सम्राट्—सम्राट् पद विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है। सामान्य राजा इस उपाधि के धारण करने के अधिकारी न थे। जिस राजा में इस पद के अनुरूप विशेष योग्यताएँ तथा गुण पाये जाते थे वही राजा इस महत्त्वपूर्ण उपाधि के धारण करने का अधिकारी समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा द्वारा वाजपेय यज्ञ के विधिवत् सम्पन्न हो जाने के उपरान्त वह राजा सम्राट् पद पाने का अधिकारी समझा जाता था।[4] इसके पूर्व कदापि नहीं। कोई क्षत्रिय राजसूय यज्ञ किये बिना वाजपेय यज्ञ करने का अधिकारी न था। इसलिए सम्राट् पद प्राप्ति हेतु पहले राजपद ग्रहण कर लेना आवश्यक था। अर्थात राजसूय यज्ञ द्वारा अभिषिक्त क्षत्रिय राजपद प्राप्त करता था, वह राजा की स्थिति में कुछ समय शासन कर लेता था, तदुपरान्त वाजपेय यज्ञ

१. देखिए अध्याय ९ यजुर्वेद।
२. कण्डिका ५ अ० २ पंजिका ८, ऐतरेय ब्राह्मण।
३. राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।
सोमो राजा राजपतिः राज्य मस्मिन्यज्ञे मयि दधातु। ९।३।४।११ शतपथ ०।
४. सम्राड् वाजपेयेन। ८।४।३।९ शतपथ०।

करने का अधिकारी हो सकता था। इसके पूर्व नहीं।[1] शतपथ ब्राह्मण में सम्राट् पद को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि सम्राट् सम्पूर्ण भुवन का एक-छत्र अधिपति होता है। उसके समान अन्य कोई अधिपति नहीं होता और उसे हानि पहुँचाने की क्षमता रखने वाला कोई राजा नहीं होता है।[2]

इस प्रकार सम्राट् सभी राजाओं का राजा होकर सम्पूर्ण भुवन में निर्विघ्न एवं निर्भय धर्मानुसार शासन करता है। शतपथ ब्राह्मण की इस व्यवस्था के अनुसार सम्राट् भुवन का एकछत्र अधिपति होता था। उसके अधीन अनेक राजा होते थे जो अपने उस सम्राट् के प्रभावान्तर्गत रहकर उसकी आज्ञानुसार अपने-अपने क्षेत्र में शासन किया करते थे। परन्तु सम्राट् के अधीन साम्राज्य में कोई ऐसा राजा नहीं होता था जो उस का वध करने अथवा उसकी आज्ञा की अवहेलना करने की सामर्थ्य रखता हो। लोक को यह तथ्य विज्ञापित करने के लिए ही सम्राट् पद की योग्यता एवं सामर्थ्य रखने वाला राजा वाजपेय यज्ञ का अनुष्ठान करता था और उसे सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के उपरान्त सम्राट् पद पर अभिषिक्त किया जाता था। इस क्रम से क्षत्रिय राजा होने के उपरान्त सम्राट् की उपाधि धारण करता था।

महाराज—शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में महाराज की व्याख्या अप्रत्यक्ष रूप में की गयी है। यद्यपि महाराज पद की यह व्याख्या अप्रत्यक्ष ही है परन्तु इस व्याख्या से महाराज पद के स्वरूप का बोध स्पष्ट हो जाता है। इस प्रसंग में यह बतलाया गया है कि इन्द्र 'वृत्र' का वध किये जाने के पूर्व केवल इन्द्र कहलाता था। परन्तु जब उसने 'वृत्र' का वध कर दिया तभी उसे महेन्द्र की उपाधि प्रदान की गयी और उसी समय से इन्द्र महेन्द्र कहलाने लगा और वह महेन्द्र पद पर आसीन होकर शासन करने लगा। वृत्र का वध कर देने से उसे उसी प्रकार महेन्द्र पद प्राप्त हुआ जिस प्रकार एक राजा दूसरे राजा का वध करके उसके राज्य पर विजय प्राप्त कर महाराज पद को ग्रहण करता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में वर्णित इस आख्यान से यह

१. राज्यमु वाऽअग्रेऽथ साम्राज्यं तस्माद् वाजपेयेनेष्ट्वा न राजसूयेन यजेत प्रत्यवरोहः स यथा सम्राट् स न राजा। ८।४।३।९ शतपथ०।

२. आसीद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति तेनेदं सर्वमास्पृणोति तस्य हि न हन्तास्ति न वधो येनेदं सर्वामस्पृतं तस्मादाहासीदद्विश्वा भुवनानि सम्राडिति। ४।४।३।२ शतपथ०।

३. इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधाय वृत्रं हत्वा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रो-

स्पष्ट है कि कोई राजा, जो कि अन्य प्रबल राजा पर विजय प्राप्त कर उसके राज्य को अपने अधीन कर लेता था, महाराज कहलाता था और इस प्रकार उसका राजपद महाराज पद में परिणत हो जाता था।

स्वराट्—ऐतरेय ब्राह्मण में सूर्य के समान स्वतंत्र राजा को स्वराट् पद का अधिकारी बतलाया गया है। जिस राजा में पराधीनता का सर्वांश में अभाव हो जाता है वह स्वराट् बन जाता है। इस श्रेणी के राजा के राज्य को वैदिक भाषा में स्वाराज्य नाम से सम्बोधित किया गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में स्वाराज्य के अधिपति-पद की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि सर्वमेध यज्ञ कर लेने के उपरान्त स्वाराज्याधिपत्य प्राप्त होता है।[2] इस यज्ञ का फल यह होता है कि यजमान राजा अपनी आत्मा को अपने अधीन राज्य के सभी प्राणियों में और राज्य के सभी प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा में अनुभव करने लगता है। अर्थात् वह विश्व के प्राणियों और स्वात्मा दोनों को एक समझ कर शासन करता है। जिस अधिपति में इतना उच्च कोटि का ज्ञान जाग्रत होकर तदनुसार शासन करने की क्षमता हो जाती है वह स्वराट् कहलाता है और उसके अधीन राज्य स्वाराज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है; शतपथ ब्राह्मण का ऐसा मत है।

छान्दोग्योपनिषद् में भी इसी भाव को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण विश्व मे अपनी ही आत्मा है और सम्पूर्ण विश्व की आत्मा अपनी आत्मा में है; जब यह भावना जिस व्यक्ति के आचरण में आ जाती है तब वह स्वराट् बन जाता है।[3] इसलिए इस श्रेणी का श्रेष्ठ आचरण धारी अधिपति स्वराट् और उसके अधीन राज्य स्वाराज्य कहलाता है।

ऽभवत्। १७।३।३।४ शतपथ ब्राह्मण। इन्द्रः पुरा वृत्रस्य वधाय वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्। २१।४।६।१ शतपथ ब्राह्मण।

१. विष्णुर्वै देवानां द्वारपः स एवस्मा एतद् द्वारं विवृणोति। तदाधिपत्यम्। तत् स्वाराज्यम्।

२. भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्सर्वेव तद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान्मेध्यान्हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति। ११।७।१३ शतपथ ब्राह्मण।

३. आत्मैवेदं सर्वमिति....स स्वराड् भवति। २।२५।७ छान्दोग्योपनिषद्।

भोज—ऋग्वेद के एक मंत्र में इन्द्र को भोज की उपाधि से विभूषित कर सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद के इस मंत्र में इन्द्र को भोज की उपाधि से विभूषित कर क्यों सम्बोधित किया जाता है, इस तथ्य को भी संकेत रूप में परिलक्षित किया गया है। ऋग्वेद के इस मंत्र में इन्द्र को जिन शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है उनका भाषानुवाद इस प्रकार है—इन्द्र, तुम दाता हो। इसलिए तुम्हें भोज कहते हैं।[1]

ऋग्वेद के इस मंत्र के आधार पर यह स्पष्ट है कि विशेष दानी होने के कारण भोज पद का अधिकारी राजा समझा जाता था। सम्भव है इसी परम्परा का पालन प्राचीन भारत के सुविख्यात राजा हर्षवर्धन ने किया था। वह प्रति पाँचवें वर्ष गंगा तट पर अपना सर्वस्व दान कर देता था और अपने लिए कुछ भी नहीं रखता था, यहाँ तक कि अपने निजी वस्त्रों-आभूषणों आदि का भी दान कर देता था। अपने लिए वह अपनी बहन राज्यश्री से उसकी एक धोती लेता था और उसी से अपने शरीर को ढककर अपनी राजधानी थानेश्वर को लौट जाता था।

इस प्रकार वैदिक आर्य राज्यों में राजा की विविध उपाधियाँ थीं। राजपद सामान्य पद था। राज्याभिषेक के विधिवत् सम्पन्न हो जाने के उपरान्त क्षत्रिय राजपद का अधिकारी हो जाता था। राजपद ग्रहण कर लेने के उपरान्त राजा अपनी योग्यता, गुण एवं सामर्थ्य के अनुसार अन्य उपाधियाँ धारण कर सकता था। वह अपने विशेष शौर्य, प्रताप तथा प्रतिभा के अनुसार सम्राट्, विराट्, स्वराट्, भोज, महाराज आदि उपाधियाँ धारण करने में समर्थ होता था।

राजा के व्रत

वैदिक संहिताओं में राजा के लिए अनेक विशेषण शब्दों का उपयोग किया गया है। इन विशेषण शब्दों में 'धृतव्रत' भी एक महत्त्वपूर्ण विशेषण है।[2] राजा के लिए प्रयुक्त इस विशेषण पद से स्पष्ट है कि वैदिक राजा पूर्व निर्धारित कतिपय व्रतों को धारण कर और उनके पालन करने की शपथ ग्रहण कर राजपद पर आसीन होता था। वैदिक संहिताओं में व्रत शब्द का प्रयोग कार्य तथा कर्त्तव्य के अर्थ में हुआ है।[3] ऋग्वेद में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए एक प्रसंग में आर्य जनता के कतिपय लोगों के कर्त्तव्यों (व्रतों) का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। उसके कुछ अंशों का भाषानुवाद

१. २।४२।१० ऋग्वेद। २. १०।२५।१ ऋग्वेद। ३. १।११२।१ ऋग्वेद।

इस प्रकार है—लोगों के कार्य (कर्त्तव्य) नाना प्रकार के हैं (नाना वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्);[1] शिल्पी (तक्षा) अपने कार्य (कर्त्तव्यपालन) के लिए काष्ठ चाहता है, वैद्य अपने कार्य के लिए रोग चाहता है, ब्राह्मण सोमाभिषव कर्त्ता यजमान को चाहता है इत्यादि। हम सब के भिन्न-भिन्न नाना प्रकार के कार्य हैं।[2] ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त में मनुष्यों के नाना प्रकार के व्रतों का जो उल्लेख है उससे स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं में व्रत शब्द का प्रयोग कार्य अथवा कर्त्तव्य के अर्थ में हुआ है। इस तथ्य के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि राजा के व्रत का तात्पर्य उसके वे कार्य अथवा कर्त्तव्य है जिनके विधिवत् सम्पन्न होने के निमित्त राष्ट्रवासी उसे अपना राजा नियुक्त करते थे और जिनके न करने से वह राजपद से च्युत हो जाता था।

वैदिक राजा के व्रतों का स्पष्ट एवं क्रमबद्ध वर्णन वैदिक संहिताओं में प्राप्त नहीं है। परन्तु इन संहिताओं में यत्र-तत्र कतिपय ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनका आश्रय लेने से ज्ञात होता है कि वैदिक राजा के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य इस प्रकार थे—

(अ) प्रजा को भयमुक्त करना

ऋग्वेद के एक सूक्त में राजा के निर्माण का जो हेतु दिया है उसके अनुसार राजा की उत्पत्ति का कारण लोक में प्राणियों का परस्पर भय था। भीत जनता ने भयमुक्त अथवा अभय होने के लिए राजपद का निर्माण कर अपने मध्य में राजा का वरण किया था।[3] वैदिक संहिताओं में प्राणियों को अभय करने के लिए यत्र-तत्र प्रार्थनाएँ की गयी हैं। अथर्ववेद के एक स्थल पर इसी प्रसंग में अन्तरिक्ष, द्यु, पृथिवी, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे सभी दिशाओं, रात-दिन, मित्र, अमित्र, परिचित, अपरिचित आदि सभी प्राणी एवं अप्राणी जगत से अभय होने के निमित्त प्रार्थना की गयी है।[4] इस प्रकार वैदिक आर्य राजा का मुख्य अथवा प्रधान कर्त्तव्य अपने अधीन प्रजा को अभय करना था। राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपने अधीन प्रजा के प्रत्येक प्रकार के भय का शमन करे और इस प्रकार उन्हें अभय कर दे। इस दृष्टि से अपने अधीन प्रजा के जीवन, उसकी सम्पत्ति तथा उसकी विविध प्रकार की आवश्यक स्वतंत्रता आदि के मार्ग में उपस्थित होने वाले सभी प्रकार के भय से उसे मुक्त करने की सम्यक् योजना एवं व्यवस्था के विधिवत् संचालन का सम्पूर्ण दायित्व राजा पर निर्भर था।

१. १०।११२।१ ऋग्वेद। २. देखिए सू० ११२, मण्डल ९, ऋग्वेद।
३. ८।१२४।१० ऋग्वेद। ४. ५, ६।१५।१९ अथर्ववेद।

प्रत्येक राज्य के समक्ष मुख्य दो प्रकार के भय होते हैं जिन्हें आभ्यन्तर भय और बाह्य भय की संज्ञा दी गयी है। आभ्यन्तर भय वे होते हैं जो राज्य के निवासियों में कुछ व्यक्तियों द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं। राज्य के निवासियों का यह वर्ग राष्ट्र के कंण्टक अथवा राष्ट्र के शत्रु होते हैं जो निरपराध प्रजा को दुख देते रहते हैं और उसे अपने कुकृत्यों एवं दुष्ट व्यवहारों द्वारा भयभीत किये रहते हैं। बाह्य भय वे होते हैं जो राज्य के बाहर से राज्य को संकटग्रस्त करने तथा उसके नाश हेतु उत्पन्न किये जाते हैं। वे भय विशेष रूप में राज्य के पड़ोसी राज्यों एवं उनके मित्र राज्यों द्वारा खड़े किये जाते हैं। इस श्रेणी के भय से राज्य की प्रजा के पीडन एवं उसकी सम्पत्ति, उसकी बहू-बेटियों के सतीत्व, उसके जीवन सम्बन्धी क्रिया-कलापों आदि के नाश का आतंक बना रहता है। इसीलिए वैदिक संहिताओं में वैदिक आर्य राजा का प्रधान कर्त्तव्य (व्रत) अपने अधीन प्रजा को इन दोनों प्रकार के भयों से मुक्त करना एवं उसे अभय रखना निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार वैदिक राजा के अनेक कर्त्तव्यों में प्रधान कर्त्तव्य प्रजा को अभय करना था। वैदिक युग के बहुत पश्चात् महाभारत काल के प्रमुख राजनीति चिन्तक महात्मा भीष्म हुए है। उन्होंने राजा के इसी प्रधान कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—वह राजा श्रेष्ठ है जिसके अधीन राज्य में उसकी प्रजा निर्भय होकर इस प्रकार विचरण करती है जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के घर में निर्भय होकर विचरण किया करते हैं।[1] प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा के इस कर्त्तव्य को उसका प्रधान एवं अनिवार्य कर्त्तव्य निर्धारित किया है। अपने इस महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य कर्त्तव्य के विधिवत् पालन न करने से राजा अपनी प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकारी नहीं रहता था।[2]

(आ) कृषिविकास एवं उसकी समृद्धि

अन्न प्राण है। वही जीवनाधार है। वह लोक की स्थिति का आधार है। इस लोक में अन्न और प्राण यह ही दो देव हैं—वैदिक साहित्य में इस आशय के भाव यत्र तत्र व्यक्त किये गये हैं।[3] इस प्रकार अन्न के अभाव में इस लोक में प्राणिजगत

१. ३३।५७ शान्तिपर्व, महाभारत। २. २५७।९ मनुस्मृति।
३. अन्नं हृ प्राणाः। ५।३।७ ऐतरेय ब्राह्मण।

की स्थिति सम्भव नहीं है। इसीलिए संहिताओं में प्रचुर अन्न प्राप्त हो, अन्न का अभाव कभी न हो ऐसी प्रार्थनाएँ स्थान-स्थान पर की गयी हैं। इस लोक की स्थिति हेतु अन्न के उत्पादन एवं उसकी अभिवृद्धि के लिए सम्यक् व्यवस्था होनी अनिवार्य है। इसीलिए वैदिक संहिताओं में कृषि कार्य परम पुनीत तथा महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बतलाया गया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सूक्त में द्यूतक्रीड़ा-दुर्व्यसन के दोषों का मार्मिक वर्णन है। इसमें द्यूतक्रीड़ा-व्यसन मनुष्य के सर्वनाश का कारण बतलाया गया है। इसी प्रसंग में मनुष्य के सुखमय जीवन-यापन हेतु कृषि-व्यवसाय श्रेयस्कर है, इस विषय की पुष्टि में ऋग्वेद में इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—जुआरी (कितव)! कभी जुआ न खेलना। कृषि का कार्य करना। कृषि द्वारा जो भी लाभ हो उसी से स्वयं को कृतार्थ समझना। कृषि व्यवसाय से तुझे स्त्री प्राप्त होगी और अनेक गौएं भी प्राप्त होंगी, प्रभु सूर्यदेव ने मुझसे ऐसा कहा है।[1] ऋग्वेद में अन्य स्थलों पर भी यत्र-तत्र कृषि व्यवसाय की बहुत कुछ उपयोगिता एवं उसके महत्त्व की ओर संकेत किये गये हैं। कृषि कार्य के विविध साधनों एवं उनके सम्यक् उपयोग तथा इस कार्य मे दक्षता प्राप्त करने और कृषि-विकास योजना आदि के विषय में ऋग्वेद में संकेत किये गये हैं।[2] ऋग्वेद के इन्ही प्रसंगों में कृषि व्यवसाय को पुनीत एवं परम उपयोगी बतलाया गया है। यजुर्वेद में भी मनुष्य के लिए कृषि व्यवसाय की पवित्रता, उपादेयता, दक्षता आदि के विषय में लगभग वही भाव व्यक्त किये गये हैं जो कि ऋग्वेद में पाये जाते हैं।[3] अथर्ववेद में भी कृषि व्यवसाय के विषय में ऋग्वेद और यजुर्वेद के अनुसार ही विचार व्यक्त किये गये हैं।[4] इस प्रकार वैदिक युग में कृषि कार्य मनुष्य के लिए पुनीत एवं परम उपयोगी समझा जाता था और वह जीवनाधार माना जाता था।

प्राणियों के जीवन का आधार होने के कारण कृषि व्यवसाय सम्यक् व्यवस्थित रहना चाहिए, तदनुसार अन्नोत्पादन तथा अन्न की अभिवृद्धि की स्वस्थ योजना का निर्माण एव उसका विधिवत् कार्यान्वित होना सार्वजनिक सच्चे प्रयास का फल होता है। इसलिए प्रत्येक राज्य में इस महान् दायित्व का निर्वाह राज्य के शासक की देख-रेख में करना आवश्यक हो जाता है। इसीलिए वैदिक संहिताओं में कृषि के सम्यक् विकास एवं उसकी स्वस्थ अभिवृद्धि का भार राजा को सौंपा गया है। इन संहिताओं में वैदिक

१. १३।३४।१० ऋग्वेद। २. सूक्त ५७ मण्डल ४, ऋग्वेद।
३. ६७ से ७१।१२ यजुर्वेद। ४. सूक्त १७ काण्ड ३, अथर्ववेद।

राजा के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों में कृषि विकास एवं उसकी समृद्धि सम्बन्धी समस्त कार्यों का विधिवत् सम्पादन उसके अधीन राज्य में होता रहे; यह उसके अनिवार्य कर्त्तव्यों में एक कर्त्तव्य बतलाया गया है। जिस समय वैदिक आर्य राज्य में राजपद हेतु किसी क्षत्रिय का राज्याभिषेक किया जाता था उसी समय उपस्थित जन समारोह के समक्ष यह स्पष्ट घोषणा की जाती थी कि कृषि की सर्वांग सम्पन्नता, समृद्धि एवं उसके विकास हेतु उसे राजपद पर अभिषिक्त कर राजा बनाया जा रहा है।[1]

इस प्रकार वैदिक संहिताओं के अनुसार कृषि के सम्यक् एवं सर्वांग विकास तथा उसकी समृद्धि हेतु योजना का निर्माण कर प्रजा के समक्ष प्रस्तुत करना और उस योजना के कार्यान्वित होने की स्वस्थ एवं सम्यक् व्यवस्था करना वैदिक राजा के कर्त्तव्यों में एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कर्त्तव्य था। अपने इस कर्त्तव्य-पालन में प्रमाद अथवा उपेक्षा करने से राजा अपने पद से च्युत हो जाने योग्य हो जाता था।

कृषि कार्य की समृद्धि एवं सम्पन्नता के लिए कृषिभूमि की समय-समय पर आवश्यकतानुसार सिंचाई होना अनिवार्य है। यजुर्वेद में इसीलिए समय-समय पर आवश्यकतानुसार मेघ वर्षा करते रहें, ऐसी प्रार्थना की गयी है।[2] सिंचाई के साधनों के अभाव में कृषि कार्य में भगीरथीय प्रयास करने पर भी पूर्ण लाभ नहीं होने पाता। इसीलिए वैदिक संहिताओं में राजा के कर्त्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत कृषि-भूमि की विधिवत् एवं आवश्यकतानुसार सिंचाई हेतु नहरों के निर्माण-कार्य को भी उचित स्थान दिया गया है। इस विषय में यजुर्वेद के एक प्रसंग में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—हे राजन्! तू जल की नालियों अथवा नहरों का प्रसार कर।[3] नहरों के अतिरिक्त कूपों की व्यवस्था करने के लिए भी वैदिक संहिताओं में संकेत किये गये हैं।[4]

(इ) भौतिक सुखसाधनों की अभिवृद्धि

वैदिक आर्य कोरे अध्यात्मवादी न थे। आत्म विकास के साथ-साथ भौतिक सुख की प्रचुर सामग्री के उत्पादन, उसकी अभिवृद्धि, उसके सम्यक् वितरण और उसके उचित एवं न्याययुक्त उपभोग की स्वस्थ एवं सम्यक् व्यवस्था उनके समाज में रहे, उनकी ऐसी अटूट आस्था थी। भौतिक सुख के पर्याप्त साधन एवं तत्सम्बन्धी प्रचुर सामग्री आर्य जनता को सुलभ हो, इस उद्देश्य से वेदों में अनेक प्रार्थनाएँ की गयी हैं।

१. २२।९ यजुर्वेद। २. निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। २२।२२ यजुर्वेद।
३. १२।६ यजुर्वेद। ४. ३८।१६ यजुर्वेद।

ऋग्वेद का आरम्भ अग्नि की स्तुति से होता है। इस प्रसंग में एक ऋचा में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि अग्नि देव की कृपा से हमें ऐसे धन की प्राप्ति हो जो प्रति दिन हमारा पोषण करे, जिस धन से हमें यश की प्राप्ति हो सके और जिससे हममें बल की वृद्धि हो।[१] ऋग्वेद की एक ऋचा में प्रार्थना की गयी है कि इन्द्र! हमें महती कीर्ति, बहु दान-सामर्थ्य-युक्त धन और अन्न से परिपूर्ण अनेक रथ दीजिए।[२] सोम! हमें प्रचुर परिमाण में सौ मनुष्यों का धन प्रदान कीजिए; साथ ही महान् और यथेष्ट बल से संयुक्त अन्न भी प्रदान कीजिए।[३] भौतिक सुख की प्रचुर सामग्री की प्राप्ति हेतु यजुर्वेद के एक मंत्र में इस प्रकार याचना की गयी है—हे ब्रह्मन्! हमें ऐसा राष्ट्र दीजिए जिसमें ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण; शूरवीर, बाण विद्या में कुशल, दुष्टों का अतिवेधन करने वाले एवं महारथी क्षत्रिय; दूध देनेवाली गौएँ; भार वहन करने वाले वृषभ; शीघ्रगामी अश्व; गार्हस्थ्य धर्म को धारण करने वाली सुन्दर शरीरवाली महिलाएं; रथ यानों से सम्पन्न, सभ्य, वीर युवा उत्पन्न हों; इच्छित अवसरों पर मेघ वर्षा किया करें और हमारे राष्ट्र में फलवती ओषधियां परिपक्व हों तथा योगक्षेम बना रहे।[४] अथर्ववेद में भी इसी विषय की अनेक प्रार्थनाएँ उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र में मनुष्य के भौतिक कल्याण हेतु जिन विशेष पदार्थों की आवश्यकता होती है उनकी ओर संकेत किया गया है। अथर्ववेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गयी है—हे ब्रह्मन्! हमें आयु, प्राण, बल, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज प्रदान कीजिए। इस प्रकार अथर्ववेद के इस मंत्र मे लगभग उन सभी पदार्थों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है, जो कि मनुष्य के भौतिक सुख के लिए वांछनीय हैं।[५]

परन्तु उपर्युक्त सामग्री एवं पदार्थों की प्राप्ति हेतु अथक पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। इसलिए शासक और शासित दोनों इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थी होने चाहिए। इसीलिए वैदिक आर्य अपने राजा से यह आशा रखते थे कि वह अपने अधीन राज्य में ऐसी व्यवस्था करेगा जिसके अनुसार राज्य में सुख-समृद्धि सदैव बनी रहेगी। इस दृष्टि से वैदिक राजा का यह एक प्रधान कर्त्तव्य निर्धारित किया गया था कि वह राज्य में सुख की प्रचुर सामग्री के उत्पादन, उसकी अभिवृद्धि, उसके सम्यक् एवं न्याय-युक्त वितरण एवं सम्यक् उपभोग की सुदृढ़ एवं स्वस्थ योजना बनाये और उसके कार्या-

१. ३।१।१ ऋग्वेद। २. ८।९।१ ऋग्वेद। ३. ७।४३।१ ऋग्वेद।
४. २२।२२ यजुर्वेद। ५. १।७१।१९ अथर्ववेद।

न्वित होने की व्यवस्था करे। वैदिक राजा के इसी कर्त्तव्य का उसे स्मरण कराते हुए उसके राज्याभिषेक के समय उपस्थित जनसमूह के समक्ष यह घोषित कर दिया जाता था कि वे लोग अपने उस राजा का राज्याभिषेक कतिपय निर्धारित कर्तव्यों के पालन हेतु कर रहे हैं। इन निर्धारित कर्त्तव्यों में राज्य में भौतिक सुख-समृद्धि-सम्बन्धी सामग्री का प्रचुर मात्रा में उत्पादन एवं उसकी अभिवृद्धि करना भी उसका एक प्रमुख कर्त्तव्य था। यजुर्वेद के एक स्थल पर राजा के इस कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हुए प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के समय इस कर्त्तव्य के पालन हेतु उसे इस प्रकार सावधान किया गया है कि तुझे (प्रस्तावित राजा को) भौतिक सुख-समृद्धि (राये) के लिए राजपद पर अभिषिक्त कर रहे हैं।[1]

इस प्रकार वैदिक आर्य राजा का तीसरा प्रमुख कर्त्तव्य यह निर्धारित किया गया था कि वह अपने अधीन राज्य में भौतिक सुख-समृद्धि की प्रचुर सामग्री का उत्पादन, उसकी अभिवृद्धि, उसके सम्यक् तथा न्याययुक्त-वितरण और उसके सम्यक् एवं न्यायोचित उपभोग की स्वस्थ एवं सुदृढ़ व्यवस्था करने में सदैव पुरुषार्थ करता रहेगा।

(ई) सार्वजनिक कल्याण

वैदिक संहिताओं में राजा के एक और महत्वपूर्ण कर्त्तव्य की ओर संकेत किया गया है। राजा का यह कर्त्तव्य अपने अधीन प्रजा के सार्वजनिक कल्याण की सम्यक् व्यवस्था करना था। सार्वजनिक कल्याण से उनका तात्पर्य था कि इस लोक में जब तक मनुष्य जीवित रहे उसका प्रत्येक प्रकार का कल्याण होता रहे और जब वह अपना जीवन त्याग कर परलोक को गमन करे तो उसका वहाँ भी कल्याण हो। इसलिए राजा अपने अधीन अपनी प्रजा के श्रेय और प्रेय दोनों मार्गों को उसके लिए प्रशस्त करने का यथा सम्भव प्रयत्न करता रहता था।[2] राज्य के निवासियों का कल्याण हो इसके लिए सम्यक् व्यवस्था करना वैदिक राजा का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य निर्धारित किया गया था। प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण पुरोहित उसको सावधान करता हुआ उसे वचनबद्ध करता था कि वह अपने अधीन प्रजा के सार्वजनिक कल्याण सम्पादन में प्रमाद न करेगा। इस प्रसंग में यजुर्वेद के एक स्थल पर इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—प्रस्तावित राजन्, यह राष्ट्र तुझे दिया गया। हम तुझे कृषि के लिए, सुख-समृद्धि के लिए,......पोषण हेतु और सार्वजनिक कल्याण हेतु इस राज्य

१. २२।९ यजुर्वेद। २. २२।९ यजुर्वेद।

के राजपद के लिए अभिषिक्त कर रहे हैं।[1] इसी वेद में अन्यत्र अग्नि स्वरूप राजा से उसके राज्याभिषेक के अवसर पर इस प्रकार प्रजा के मंगल की कामना व्यक्त की गयी है—हे अग्निरूप राजन्! तू हम प्रजाओं के लिए मंगलकारी (शिव) होकर इस राष्ट्र मे रहने वाली प्रजा का कल्याण करके (शिवं कृत्वा) अपने राजासन पर आसीन हो और इसके पश्चात् राजधर्म मे रत हो जा।[2] यजुर्वेद के एक अन्य स्थल पर प्रस्तावित राजा द्वारा उसके अधीन प्रजा के सार्वजनिक कल्याण सम्पादन की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—हे उत्तम कीर्ति वाले! उत्तम कल्याण युक्त सत्य-प्रकाशक राजन्! तू श्रेष्ठ प्रजा पालक है। सार्वजनिक मंगल कार्यों के सम्पादन हेतु तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूँ।[3] यजुर्वेद के इसी अध्याय के एक मंत्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—हे प्रस्तावित राजन्! तेज की प्राप्ति हेतु, ब्रह्मतेज की प्राप्ति हेतु, अविद्या और रोग निवारण हेतु, पराक्रम के लिए, अन्नादि की वृद्धि के लिए, विद्युत् के समान बल के लिए, राज्यश्री के लिए, यश के लिए—ऐसे सभी सार्वजनिक कल्याण के लिए तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूं।[4]

इस प्रकार वैदिक संहिताओं के अनुसार अपने अधीन प्रजा के सार्वजनिक कल्याण का सम्पादन करना तथा उसके सम्यक् पोषण करने की उचित व्यवस्था करना वैदिक राजा का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य था।

(उ) ज्ञान प्रसार कार्य

अज्ञान मनुष्य का प्रबल एवं भयंकर शत्रु है। अज्ञानान्धकार ग्रस्त मनुष्य विवेक शून्य होकर कर्तव्याकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है और भले-बुरे की पहचान करने में असमर्थ हो जाता है। ज्ञानविहीन प्राणी घोर अंधकार में ग्रस्त होकर अपनी जीवन-यात्रा में पथ-भ्रष्ट हो जाता है और अपने गन्तव्य स्थान पर न पहुँच कर इधर-उधर भटकता हुआ अपना सर्वनाश कर लेता है। इसीलिए वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर बुद्धि की प्राप्ति एवं उसके सुविकास की याचना की गयी है।[5] वेदों का सार गायत्री मंत्र बतलाया गया है। इस मंत्र में बुद्धि की प्राप्ति एवं उसके विकास हेतु सविता देव से याचना की गयी है।[6] वैदिक संहिताओं में इस विषय की प्रचुर सामग्री है जिसमें

१. २२।९ यजुर्वेद। २. १७।१२ यजुर्वेद। ३. ४३।२० यजुर्वेद।
४. ३।२० यजुर्वेद। ५. ६।८।१ ऋग्वेद ६. १।९।६ ऋग्वेद।

अंधकार से प्रकाश में प्रवेश हेतु प्रार्थनाएँ की गयी हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर राजा को अग्नि स्वरूप मानकर स्पष्ट व्यक्त किया गया है कि वह अपने अधीन प्रजा में अज्ञान का नाश कर ज्ञान का प्रसार करता है।[1] यजुर्वेद में राज्याभिषेक की प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण दिया हुआ है। इसी प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रजा में ज्ञान-प्रसार करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है। प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण पुरोहित राजा के इस कर्तव्य की ओर संकेत करता हुआ उपस्थित जन-समूह के समक्ष स्पष्ट शब्दों में कहता है—इस राजपद के लिए तेरा अभिषेक कर रहा हूँ। तू इस राज्य में ज्ञान का प्रसार कर।[2] इस प्रकार यजुर्वेद के इस प्रसंग में ज्ञान-प्रसार हेतु तत्सम्बन्धी स्वस्थ एवं सुदृढ़ योजना का निर्माण कर उसे विधिवत् कार्यान्वित करना एवं अपने अधीन प्रजा में ज्ञान वृद्धि की रुचि उत्पन्न करना और उसका तदनुसार आचरण कराना वैदिक राजा के कर्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत निर्धारित किया गया है। यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के एक मंत्र में कतिपय ऐसे कार्यों का उल्लेख है जिनके सम्पादन हेतु वैदिक आर्य राजा का राज्याभिषेक किया जाता था। इन कार्यों में ज्ञान-प्रसार (सरस्वत्यै) भी एक प्रधान कार्य है।[3]

उपर्युक्त तथ्यपूर्ण सामग्री के आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि अपने अधीन राज्य की जनता में ज्ञान-प्रसार कार्य का सम्पादन और तदनुसार अज्ञानान्धकार से उस जनता को मुक्त करना तथा अज्ञानान्धकार के स्थान में ज्ञान संस्थापना करना वैदिक आर्य राजा का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य था।

प्रजा के प्रति राजा की कर्तव्य नीति

राजा और उसकी प्रजा के मध्य किस प्रकार व्यवहार होना चाहिए, इस विषय में भी वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र संकेत किये गये हैं। इन संकेतों के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों का दृढ़ मत था कि राजा और उसके अधीन उसकी प्रजा के मध्य माता और उसके शिशुवत् व्यवहार होना चाहिए। इसलिए अपने अधीन प्रजा के प्रति राजा का वही कर्तव्य है जो कि माता का कर्तव्य अपने शिशु के प्रति होता है। माता अपने शिशु का पालन-पोषण करती, उसके क्लेशों का निवारण करती और उसके सर्वांग विकास के लिए प्रत्येक सम्भव साधन सम्पन्न करती है। इसके साथ ही वह

१, ३१, ३२।१० ऋग्वेद २. ९, २२।२० यजुर्वेद। ३. ७।१० यजुर्वेद।

उद्दण्ड शिशु को अनुशासन एवं नियंत्रण में रखती है। इसलिए वैदिक आर्य राजा का कर्तव्य अपने अधीन प्रजा के इन्हीं कार्यों का सम्पादन करना है। वैदिक संहिताओं में राजा और प्रजा के इस सम्बन्ध की ओर इस प्रकार संकेत प्राप्त है—राजा अपनी प्रजा के प्रति उसी प्रकार प्रतिष्ठित रहे (व्यवहार करे) जिस प्रकार माता अपने शिशु के प्रति स्नेहमयी बनकर प्रतिष्ठित रहती है।[1] इस प्रसंग में जो वेदमंत्र उद्धृत किया गया है उसके दो शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ये दो शब्द 'पस्त्यः' और 'अपस्यः' हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ क्रमशः प्रजा (विश्) और कर्म है।[2] इन्हीं अर्थों में ये दोनों शब्द इस मंत्र में आये हैं। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि राजा और उसके अधीन प्रजा के मध्य माता और उसके शिशु का व्यवहार एवं आचरण होना चाहिए, ऐसा वेदमत है। माता अपने शिशु को उसके कल्याण हेतु गर्भ में धारण करती है, पालन-पोषण करती है, उसका सर्वांग विकास करती है और इस तरह प्रत्येक प्रकार से कल्याण करती है। वेद के अनुसार अपनी प्रजा के प्रति राजा का यही कर्तव्य है। वैदिक युग के बहुत समय उपरान्त महाभारत युग में महात्मा भीष्म ने राजा और प्रजा के परस्पर कर्तव्यों पर अपना मत व्यक्त करते हुए इसी नीति का अनुसरण किया है। उन्होंने भी राजा का उसकी प्रजा के प्रति व्यवहार माता और उसके गर्भस्थ शिशु के प्रति व्यवहार के सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर के समक्ष अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपनी प्रिय वस्तु का परित्याग कर गर्भस्थ शिशु के कल्याण में निरन्तर संलग्न रहती है, उसी प्रकार राजा भी अपने अधीन प्रजा के कल्याण हेतु अपने हितकारी[3] कार्यों का परित्याग करे और निरन्तर उसके कल्याण में संलग्न रहे।[3]

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह कहना उचित ही है कि वैदिक राजा के कर्तव्यों के विषय में वैदिक संहिताओं में स्पष्ट नीति का प्रतिपादन किया गया है। यह मातृस्नेह-परिप्लावित नीति है। इसका तात्पर्य यह है कि वैदिक राजा का प्रधान कर्तव्य अपने अधीन प्रजा के प्रति उस व्यवहार एवं आचरण को धारण करने का था जो व्यवहार एवं आचरण माता अपने शिशु के पालन-पोषण, उसके सर्वांग एवं

१. ७।१० यजुर्वेद। २. विशो वै पस्त्याः। ११।५।३।५ शतपथ ब्राह्मण। अप इति कर्मनाम, १–२ निघण्टु। ३. ४५।५६ शान्तिपर्व, महाभारत।

सम्यक् विकास तथा उसके परम कल्याण हेतु धारण करती है। इसीलिए वैदिक संहिताओं में राजा स्पष्ट शब्दों में सावधान किया गया है कि उसकी प्रजा के प्रति उसका व्यवहार एवं आचरण सर्प अथवा व्याघ्र जैसे क्रूर एवं हिंसक प्राणियों के व्यवहार के समान कदापि नहीं होना चाहिए। उसे अपनी प्रजा पर सुख की वर्षा करने वाला होना चाहिए। इन संहिताओं में इस विषय में राजा को सावधान करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—हे राजन् ! तू सर्प (क्रूर एवं हिंसक) मत बन और न व्याघ्र (निर्दय एवं हिंसक) ही बन। तू प्रजा के सुखों का विस्तार करने वाला बन और सत्य मार्ग का अनुसरण कर (ऋतस्य पन्थानमनु)।[1]

इस प्रकार प्रजा के प्रति राजा की कर्तव्य नीति की ओर संकेत किया गया है। यह नीति मातृ-स्नेह परिप्लावित है और जो माता और उसके शिशु के परस्पर व्यवहार एवं आचरण पर आधारित मानी गयी है।

राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह से घृणा

वैदिक संहिताओं में राजद्रोह और प्रजाद्रोह दोनों के प्रति घृणा के भाव व्यक्त किये गये हैं। इन संहिताओं में कई मंत्र हैं जिनमें राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह के विरुद्ध विचार दिये हुए हैं। इन में से कुछ मंत्रों का सारांश यहाँ दिया जा रहा है। इस प्रसंग के एक मंत्र में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—हे शत्रु-विजेता राजन् ! हम लोग तेरे विरुद्ध आचरण न करें। हम लोगों में जो अधर्माचारी हैं उन्हें हम नष्ट कर रहे हैं।[2] हे मातृ-भूमि ! तू मेरी हिंसा मत कर और मैं भी तेरी हिंसा न करूँ।[3] इस मंत्र में, राजा और प्रजा दोनों परस्पर रक्षा करें, इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसी प्रसंग में एक अन्य स्थल पर इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—हे राजन् ! तू इस पृथ्वी माता को सन्तप्त एवं उग्र तेज से शोकयुक्त मत कर।[4] इस प्रकार इस मंत्र में राजा द्वारा किये जाने वाले प्रजाद्रोह की निन्दा की गयी है। इस प्रसंग में प्रजा के नाश करने का निषेध किया गया है जो इस प्रकार है—हे अग्रनेता ! तू विद्या और ज्ञान से प्रकाशमान मंगलकारी कार्यों द्वारा, सत्कार के साधनों द्वारा, महान् तेज द्वारा प्रकाशित होकर सुखों का सम्पादन कर और पालन योग्य प्राणियों की हिंसा मत कर।[5] इसी प्रसंग में अन्य स्थल पर इस प्रकार विचार व्यक्त किये

१. १२।६ यजुर्वेद। २. २३।१० यजुर्वेद। ३. २३।१० यजुर्वेद।
४. १५।१२ यजुर्वेद। ५. ३२।१२ यजुर्वेद।

गये हैं—हे राजन् ! तू क्षत्र (क्षात्र बल) का आधार है, तू क्षत्र का केन्द्र स्थान है। इसलिए किसी व्यक्ति को भी तेरी हिंसा नहीं करनी चाहिए।[1] इस मंत्र में भी राजा और प्रजा दोनों वैर त्याग कर परस्पर रक्षा में प्रवृत्त रहें, इस विषय की प्रार्थना की गयी है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संहिताओं में राजा और उसकी प्रजा, दोनों के लिए परस्पर वैर एवं हिंसा त्याग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है और राजद्रोह तथा प्रजाद्रोह दोनों की निन्दा की गया है। राजा और उसकी प्रजा दोनों परस्पर सहयोगी एवं पूरक माने गये हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। इसलिए ये दोनों परस्पर सहयोग एवं एक दूसरे का हित चिन्तन करते हुए स्वकर्तव्यों का सम्यक् पालन करते रहें; इसी में प्राणि-मात्र का कल्याण निहित है। बस यही कल्याण मार्ग है। राजा और प्रजा दोनों इसी कल्याण मार्ग के पथिक रहें, राजा और उसकी प्रजा के लिए वेद का यही उपदेश है।

१. १।२० यजुर्वेद।

अध्याय ७

संविधान और विधि

वैदिक आर्य राज्य का संविधान

वैदिक संहिताओं के राजनीतिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राज्यों के संगठन एवं संचालन हेतु उनके संविधान होते थे। प्रत्येक आर्य राज्य के अधिपति (प्रधान शासक) की नियुक्ति, उसका क्षेत्राधिकार, उसके कर्तव्य और अधिकार, उसकी पदच्युति आदि सभी विषयों का निर्धारण पूर्व निर्धारित एवं निश्चित नियमों तथा सिद्धान्तों के आधार पर होता था। उदाहरण के लिए, इन नियमों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति राजपद प्राप्ति का अधिकारी न था। केवल राजन्य (क्षत्रिय) राजपद पर आसीन किया जा सकता था। उस राजन्य में ओज, बल, शौर्य, विक्रम, प्रशासन योग्यता आदि विशेष गुणों का प्राधान्य होना अनिवार्य था। इन नियमों के अनुसार राजपद प्राप्ति हेतु प्रस्तावित क्षत्रिय का राज्याभिषेक होना अनिवार्य कृत्य था। अनभिषिक्त राजा वैध नहीं समझा जाता था। आर्य जन अनभिषिक्त क्षत्रिय को अपना राजा कभी स्वीकार नहीं करते थे। राजपद ग्रहण करने के लिए प्रस्तावित राजा को राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित जन समारोह के समक्ष राजकीय शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। इसी प्रकार पूर्व निर्धारित एवं निश्चित कतिपय नियम थे जिनके आधार पर राज्य की सरकार का संगठन एवं संचालन हुआ करता था। राजा अथवा उसके अधीन अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी इन नियमों के उल्लंघन करने के अधिकार से सर्वथा वंचित थे। यदि कोई व्यक्ति उनमें किसी भी नियम का उल्लंघन करने का साहस करता तो वह तुरन्त पदभ्रष्ट कर दिया जाता था। इन्हीं तथा इस प्रकार के नियमों के समुच्चय अथवा संग्रह ने वैदिक आर्य राज्य के संविधान का रूप ग्रहण कर लिया था। इसी संविधान के अनुसार वैदिक आर्य राज्य का संगठन एवं संचालन हुआ करता था।

वैदिक आर्य राज्य के संविधान के विशेष लक्षण

वैदिक आर्य राज्य का संविधान परम पुनीत समझा जाता था। उसके अन्तर्गत धाराओं का पालन श्रद्धा-भक्ति से किया जाता था। वह अलंघनीय एवं सर्वमान्य समझा जाता था। इस संविधान की एक भी धारा का उल्लंघन महान् पाप समझा जाता था।

आर्य जन, राजा तथा उसके अधीन कार्य करने वाले अन्य छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं आदि की दृष्टि में यह संविधान सर्वांश में मान्य, परमपुनीत एवं अलंघनीय था।

इस संविधान की दूसरी विशेषता इसके अनम्य स्वरूप (Rigid) होने की थी, अर्थात् वैदिक आर्य राज्य का यह संविधान अनम्य संविधानों की श्रेणी में परिगणित किया जायगा। इस संविधान के अन्तर्गत इसकी धाराओं अथवा इसके नियमों तथा उपनियमों में किसी प्रकार का संशोधन, परिवर्द्धन अथवा परिवर्तन आदि सरलता से नहीं किया जा सकता था। इस कार्य के लिए विशेष साधनों एवं उपायों का आश्रय लेना अनिवार्य था। इसका कुछ अंश, जैसे राजन्य ही राजपद का अधिकारी होगा, प्रस्तावित राजा का राज्याभिषेक होगा, प्रस्तावित राजा को राजपद से सम्बन्धित शपथ ग्रहण करनी होगी, आदि अपरिवर्तनीय, असंशोधनीय, असंवर्द्धनीय था। केवल उसकी प्रक्रिया में समय एवं आवश्यकता के अनुसार कुछ हेर-फेर किया जा सकता था, सो भी विशेष परिस्थिति में और महान् जटिलता से। इस हेर-फेर करने के लिए विशेष परिषद् अथवा विद्वत्-सम्मेलन के निर्णय की आवश्यकता होती थी। इसमें विदथ नाम की संस्था का विशेष योगदान रहता था। इस विशेष कार्य प्रणाली द्वारा ही उक्त संविधान की धाराओं अथवा नियमों एवं उपनियमों की प्रक्रिया में किंचित् हेर-फेर किया जा सकता था। इस दृष्टि से वैदिक आर्य राज्य का यह संविधान अनम्य था। यह इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी।

वैदिक आर्य राज्य के इस संविधान की एक और विशेषता थी। यह संविधान आंशिक लिखित एवं आंशिक अलिखित था। इसका लिखित अंश आज भी ज्यों-का-त्यों वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। इसका अलिखित अंश आर्य जन-जीवन में प्रचलित प्रथाओं, प्रचलनों आदि पर आधारित था। संविधान के इस अंश को लेखबद्ध करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी थी।

वैदिक आर्य राज्य के संविधान के उपर्युक्त विशेष लक्षणों के अतिरिक्त एक विशेषता यह भी थी कि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार इसके विविध रूप थे। वैदिक आदि-राज्य के संविधान के इन विविध प्रकारों का उल्लेख वैदिक साहित्य में है। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों ने अपने राजनीतिक जीवन में विविध प्रकार के संविधानों को कार्यान्वित किया था और तदनुसार विविध प्रकार के राज्यों की भी स्थापना की थी। परन्तु यह स्मरण रहे कि इन विविध संविधानों के मूल तत्व अथवा उनकी आत्मा एक ही बनी रही। इनके अन्तस्तल में एक ही सिद्धान्त निहित था।

विविध संविधान

वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राजा अपनी विविध उपाधियों के अनुसार विविध प्रकार के होते थे। उनकी इन उपाधियों के अनुरूप ही वैदिक आर्य राज्यों का संगठन एवं संचालन होता था। इन राज्यों का पृथक्-पृथक् अपना स्वरूप था और तदनुसार ही उनके पृथक्-पृथक् संविधान होते थे। इन्हीं संविधानों के आधार पर उनमें प्रशासन की रूपरेखा बनायी जाती थी। वैदिक संहिताओं में इन संविधानों में से कुछ की ओर संकेत किये गये हैं।[1] उत्तर वैदिक युग मे इनके विशेष उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन संविधानों की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत के अनुसार ये संविधान राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्यमय और स्वावश्य संविधान थे।[2] वैदिक संहिताओं में इनका स्पष्ट उल्लेख नही है। परन्तु उत्तर वैदिक साहित्य में अपेक्षाकृत इस विषय में कुछ अधिक सूचना उपलब्ध है और उनकी नामावली भी स्पष्ट दी गयी है। इससे यह ज्ञात होता है कि इन संविधानों का विकास उत्तर वैदिक काल में विशेष रूप मे हुआ था। इन संविधानों का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा, इस विषय के बोध हेतु तथ्यपूर्ण सामग्री का अभाव होने के कारण इस महत्त्वपूर्ण विषय पर विशेष प्रकाश डालना सम्भव नही। तथापि जो कुछ भी प्रामाणिक सामग्री वैदिक साहित्य में आज हमें उपलब्ध है उसके आधार पर वैदिक राज्यों के इन संविधानों का यथासम्भव परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

राज्य-संविधान—राज्य-संविधान के अन्तर्गत राज्य का सर्वोच्च शासक अथवा अधिपति राजा कहलाता था। उसकी नियुक्ति के कतिपय विशेष नियम थे। इनमें एक महत्त्वपूर्ण नियम यह था कि क्षत्रिय ही राजा हो सकता था, अन्य कोई व्यक्ति राजपद पाने का अधिकारी न था। राजपद पर क्षत्रिय की नियुक्ति हेतु विधिवत् प्रस्ताव होने

१. १।१००।१ ऋग्वेद। १।१७।१ ऋग्वेद। २।१८१।१ ऋग्वेद।
९।५३।१ ऋग्वेद। ९।२८।२ ऋग्वेद। ५।१८८।१ ऋग्वेद।
४०।९ यजुर्वेद। ३०।९ यजुर्वेद।

२. तामहमनुराज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति।

५।२।८ ऐतरेय ब्राह्मण।

का राज्य-संविधान के अन्तर्गत विशेष नियम था। इस संविधान के अनुसार राजपद पर उसकी नियुक्ति होने के लिए प्रस्तावित क्षत्रिय द्वारा राजसूय यज्ञ का विधिवत् सम्पन्न होना अनिवार्य था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि क्षत्रिय राजसूय यज्ञ करने से राजा बनता है।[1] इस यज्ञ के अवसर पर एक विशेष कृत्य राजा सोम से राजसूय-याजी क्षत्रिय के द्वारा प्रार्थना करने का था। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रार्थना का जो स्वरूप दिया गया है उसका हिन्दी भाषानुवाद इस प्रकार है—राजाओं के प्रति सोम राजा इस यज्ञ में मुझे राज्य प्रदान करें।[2] इसके उपरान्त उस राजसूय-याजी क्षत्रिय का राज्याभिषेक राजपद हेतु किया जाता था।

इस प्रकार राजपद हेतु क्षत्रिय का वरण किया जाना, उसके द्वारा राजसूय यज्ञ का विधिवत् सम्पन्न होना, राजा सोम से राजसूय-याजी क्षत्रिय द्वारा राज्यप्राप्ति हेतु प्रार्थना करना, राज-पद हेतु प्रस्तावित क्षत्रिय का राज्याभिषेक एवं तदनुसार राजकीय शपथ का ग्रहण किया जाना आदि राज्य-संविधान के कतिपय विशेष लक्षण थे। प्रस्तावित क्षत्रिय इस प्रकार राज्यसंविधान के अनुसार राजपद ग्रहण करता था और अपने अधीन प्रजा की सम्यक् रक्षा एवं उसके सम्यक् प्रतिपालन करने के कार्यभार को ग्रहण करता था।

साम्राज्य संविधान—साम्राज्य संविधान के अन्तर्गत साम्राज्य का सर्वोच्च शासक अथवा उसका अधिपति सम्राट् कहलाता था। सभी क्षत्रिय सम्राट् पद पाने के अधिकारी न थे। इस पद हेतु प्रत्याशी केवल राजाओं में से ही कोई राजा हो सकता था। सब राजा भी सम्राट् पद हेतु प्रत्याशी होने योग्य न थे। इसलिए वही क्षत्रिय जो राजसूय यज्ञ का विधिवत् संपादन कर राजपद पा चुका था सम्राट् पद प्राप्ति हेतु प्रत्याशी होने का अधिकारी था।[3] इसके अतिरिक्त इस संविधान की एक विशेषता यह भी थी कि सम्राट पद पाने का अधिकारी होने के लिए प्रत्याशी राजा द्वारा वाजपेय यज्ञ का विधिवत् सम्पन्न होना अनिवार्य कर्तव्य था। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट व्यवस्था दी

१. राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।

२. सोमो राजा राजपतिः। राज्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु। ९।३।४।११ शतपथ० ।

३. राज्यमु वा अग्रेऽथ साम्राज्यं तस्माद् वाजपेयेनेष्ट्वा न राजसूयेन यजेत प्रत्यवरोहः स यथा सम्राट् सन्राजा स्यात्तादृक्तत्। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।

गयी है कि वाजपेय यज्ञ सम्राट् पद देता है।[1] वाजपेय यज्ञ के अवसर पर वह राजा वरुण देव से साम्राज्य प्राप्ति हेतु प्रार्थना करता था। इस प्रार्थना का हिन्दी भाषानुवाद इस प्रकार है—सम्राट्पति वरुण मेरे लिए (वाजपेय-याजी यजमान राजा के लिए) साम्राज्य प्रदान करें।[2] इसके उपरान्त उस यजमान राजा का राज्याभिषेक सम्राट् पद हेतु किया जाता था।

साम्राज्य संविधान के अन्तर्गत एक और महत्त्वपूर्ण कर्तव्य अनेक राजाओं पर विजय प्राप्ति करने का भी था। वह अपने समकालीन अनेक राजाओं को परास्त कर उन्हें अपने राज्यमण्डल में सम्मिलित कर लेता था, परन्तु उन पराजित राजाओं को अपने अधीन न करके उनके राज्य उन्हीं को पुनः कतिपय निश्चित प्रतिबन्धों के आधार पर वापस कर देता था और उन्हें उनके आन्तरिक प्रशासन का पूर्ण अधिकार दे देता था। परन्तु बाह्य संबन्ध की दृष्टि से वे स्वतंत्र नहीं किये जाते थे। पराजित राजा अपने इस विजयी सम्राट् के प्रति करदायी होते थे। विशेष अवसरों पर अपने सम्राट् के प्रति सम्मान प्रदर्शन, सम्राट् के समक्ष उपस्थित होने, भेंट देने, आवश्यकतानुसार धन, जन तथा परामर्श द्वारा सहायता देने एवं युद्ध काल में अपनी-अपनी सेना सहित सम्राट् की ओर से उसके शत्रु के विरुद्ध युद्ध करने हेतु प्रस्तुत रहने आदि सम्बन्धी उनके विशेष कर्तव्य माने गये थे। इन अधीनस्थ राज्यों में उनके सम्राट द्वारा निश्चित एवं निर्धारित किये गये संविधान के अनुसार प्रशासन की रूपरेखा कार्यान्वित की जाती थी।

इस प्रकार सम्राट् सार्वभौम राजा होता था। वैदिक युग के बहुत पश्चात गुप्त युग में समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण विजय के प्रसंग में इसी नीति का पालन किया था और तदनुसार सम्राट् पद धारण किया था। प्रयाग शिलास्तम्भ का समुद्रगुप्त-अभिलेख इसका पुष्ट प्रमाण है।[3]

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर साम्राज्य-संविधान के महत्त्वपूर्ण लक्षण इस प्रकार थे—राजा ही सम्राट् पद का प्रत्याशी हो सकता था, राजा अनेक राजाओं को पराजित कर उन्हें अपने राज्य मण्डल के अन्तर्गत कर लेता था और उनके राज्य उन्हें कति-

१. सम्राड् वाजपेयेन। ८।४।३।९ शतपथ ब्राह्मण।
२. वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः। साम्राज्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु। १०।३।४।११ शतपथ ब्राह्मण। ३. समुद्रगुप्त का प्रयाग शिलास्तम्भ-अभिलेख।

पत्र निश्चित एवं निर्धारित प्रतिबन्धों के आधार पर पुनः वापस कर देता था। इनकी विदश नीति अपने अधीन कर लेना, वाजपेय यज्ञ करना एवं वरुण का आदर्श सामने रखकर साम्राज्य संचालन करने का वचनबद्ध होना, साम्राज्याभिषेक सम्पन्न कराना आदि सम्राट् के महत्त्वपूर्ण विशेष अधिकार थे। इस दृष्टि से वैदिक साम्राज्य संविधान उस युग की राजनीति में विशेष स्थान रखता है। साम्राज्य संविधान अपने समकालिक अन्य संविधानों की अपेक्षा विशेषता-सम्पन्न संविधान था। सम्राट् सम्पूर्ण भुवन का एक मात्र विशेष राजा होता था।

भौज्य संविधान—ऋग्वेद में इन्द्र के विविध गुणों के आधार पर उसे तदनुसार पृथक्-पृथक् नामों से सम्बोधित किया गया है। इन्द्र के इन विविध नामों अथवा उसकी विविध उपाधियों में भोज भी एक उपाधि है। इन्द्र देवों का राजा है। उसे भोज उपाधि क्यों दी गयी थी; इस ओर भी ऋग्वेद में संकेत किया गया है। इस संकेत के आधार पर यह ज्ञात होता है कि राजा इन्द्र अपने अधीन प्रजा को भोग सामग्री प्रचुर मात्रा में सुलभ करने में समर्थ था। इसी आधार पर उसे भोज की उपाधि दी गयी थी।[1] भोज शब्द की निष्पत्ति 'भुज्' धातु से होती है जिसका अर्थ है भोग सामग्री प्रस्तुत करना। इस प्रकार जिस राज्य में राजा अपने अधीन प्रजा के निमित्त उसके भोजन हेतु प्रचुर अन्न, शरीर पर धारण करने के लिए पर्याप्त वस्त्र, उसके रहने के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक एवं सुखकारी आवश्यकतानुसार गृह आदि सुलभ रखने की सम्यक् व्यवस्था करता है उस राज्य के संविधान को भौज्य संविधान कहा गया है। इस प्रकार भौज्य संविधान के आधार पर संगठित राज्य का उद्देश्य राज्य की सम्पूर्ण जनता के लिए उपयुक्त भोग सामग्री प्रचुर मात्रा में सुलभ करना था। इस दृष्टि से भौज्य राज्य में भोग सामग्री के सम्यक् उत्पादन, उसके सम्यक् वितरण और न्याय-युक्त उपभोग की स्वस्थ एवं सुखदायी व्यवस्था की संस्थापना होना आवश्यक था। जितने क्षेत्र की जनता के भोजन, वस्त्र, निवासस्थान आदि की स्वस्थ एवं सुखदायी व्यवस्था करने में वह राजा समर्थ होता था उतने क्षेत्र पर ही वह राज्य करने का अधिकारी होता था और इस प्रकार उतने ही क्षेत्र का वह राजा होकर भोज नाम से प्रसिद्ध होता था।

कुछ विद्वानों ने भौज्य राज्य की व्याख्या दूसरी दृष्टि से भी की है। इन विद्वानों

१. ३।४२।१० ऋग्वेद।

के प्रतिनिधि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर हैं। उनके मतानुसार भौज्य यौगिक शब्द है जो 'भू' और 'ज' द्वारा निष्पन्न है। भू पृथ्वी को कहते हैं। ज का तात्पर्य जन्म लेने से है। इस दृष्टि से भौज्य राज्य ऐसा राज्य होता था जो पृथ्वी की नैसर्गिक मर्यादाओं से परिवेष्टित होता था। उदाहरण के लिए भारतवर्ष है जिसकी सीमाएँ नैसर्गिक हैं, प्रकृति ने उसे विश्व के अन्य भूभागों से पृथक् कर रखा है। इसी प्रकार नेपाल, स्काटलैण्ड आदि हैं। इस प्रकार भौज्य संविधान की उपर्युक्त दो मुख्य विशेषताएँ होती हैं। इन्हीं विशेषताओं को दृष्टि में रखकर भौज्य राज्य में प्रशासन किया जाता था। भोजपद पाने के लिए भी राजा को तत्सम्बन्धी विशेष यज्ञ का अनुष्ठान करना पड़ता था और उसी के अनुसार उसका भोजपद पर राज्याभिषेक भी होता था।

स्वाराज्य संविधान—स्वराट् के अधीन जो राज्य होता था वह स्वाराज्य कहलाता था और उसका संगठन एवं संचालन जिस संविधान के अन्तर्गत होता था वह स्वाराज्य संविधान कहलाता था। इसकी विवेचना वैदिक राजा की विविध उपाधियों के साथ स्वराट् उपाधि के अन्तर्गत की जा चुकी है जो इस पुस्तक के पिछले पृष्ठों पर दी हुई है। पाठक स्वाराज्य संविधान के परिचय हेतु उसे पढ़ लें। यहाँ पर उसकी विवेचना करना पुनरुक्ति मात्र होगी अतः यहाँ उसे दिया नहीं गया।

वैराज्य संविधान—अथर्ववेद के एक मंत्र में संकेत किया गया है कि एक ऐसा भी युग था जब राजा न था। सारी प्रजा स्वयं अपनी राज्यव्यवस्था संचालित करती थी। इस मंत्रांश का हिन्दी भाषानुवाद इस प्रकार है—पहले अथवा आदि काल में (अग्रे) राजा व शासक न था (विराज)।[1] इसका अर्थ यह है कि जनता स्वयं अपनी राज्यव्यवस्था का संचालन करती थी। इस श्रेणी की शासन व्यवस्था जिस संविधान के अन्तर्गत होती थी उसे वैराज्य संविधान कहते थे।

निरुक्ति की दृष्टि से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वैराज्य शब्द की निरुक्ति "विगत राजकं वैराज्यं" है जिसका अर्थ है राजा रहित राज्य। इस प्रकार व्याकरण के अनुसार भी वैराज्य को राजा रहित राज्य के अर्थ में लेना न्याययुक्त होगा। इस प्रकार वैराज्य प्रत्यक्ष जनतंत्रात्मक राज्य था और इसका संविधान वैराज्य संविधान कहलाता था।

वैराज्य के इस विशेष लक्षण की विवेचना आचार्य कौटिल्य ने स्वप्रणीत अर्थ-

१. ८।१०।१ अथर्ववेद।

शास्त्र में विशेष रूप से की है। अर्थशास्त्र के एक प्रसंग में वैराज्य और द्वैराज्य के गुण-दोषों की विवेचना की गयी है। इन दोनों राज्यों में किस राज्य को अपेक्षाकृत अच्छा माना जाय इस विषय में आचार्य कौटिल्य ने अपने पूर्व के कतिपय आचार्यों के मत उद्धृत करते हुए अपना मत भी दिया है। इन मतों का गम्भीर एवं विवेचनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त इन दोनों प्रकार के राज्यों के वास्तविक स्वरूप का स्थिर कर लेना सरल हो जाता है। इस प्रसंग में अन्य आचार्यों के मत देते हुए आचार्य कौटिल्य लिखते हैं—द्वैराज्य और वैराज्य में द्वैराज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है, क्योंकि एक ही राज्य में दो राजा होने से उन दोनों पक्षों में पारस्परिक राग-द्वेष से अथवा पारस्परिक संघर्ष के कारण द्वैराज्य शीघ्र नाश को प्राप्त होता है।[1] परन्तु वैराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल चलता हुआ सबके (राज्य के सभी निवासियों के) भोगने योग्य होता है, ऐसा आचार्य गण मानते हैं।[2]

इस प्रकार इन आचार्यों के वैराज्य सम्बन्धी विचारों की भली भाँति विवेचना कर लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैराज्य राजा रहित राज्य था। इस प्रसंग में वैराज्य अराजकता का बोधक नहीं है, क्योंकि अराजकता में सुख और शान्ति एवं व्यवस्था नहीं रहती। अराजकता लोकप्रिय नहीं हो सकती। अराजक भूभाग में राज्य नहीं होता।[3] परन्तु अर्थशास्त्र के उस प्रसंग में दो राज्यों की तुलना की गयी है। आचार्यों ने द्वैराज्य और वैराज्य की तुलना करते हुए वैराज्य की प्रशंसा की है। उन्होंने वैराज्य के अपेक्षाकृत अच्छा राज्य होने के हेतु भी दिये हैं। उनका मत है कि वैराज्य जनता के चित्त के अनुकूल होता है। इस दृष्टि से वैराज्य राजा-रहित जन-प्रिय राज्य के सभी निवासियों के उपभोग की क्षमता रखने वाला राज्य है। दूसरे शब्दों में, इस श्रेणी के राज्य में राज्य की प्रभुता (Sovereignty) का भोग उस राज्य के सभी निवासी करते हैं। इस प्रकार इस श्रेणी के राज्य को प्रत्यक्ष जनतन्त्रात्मक राज्य की संज्ञा देना ही उचित है, क्योंकि इस श्रेणी के राज्यों में राज्य की प्रभुता का भोग व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्ति-समूह-विशेष न करता था; परन्तु राज्य के समस्त निवासी उसके भोगने के अधिकारी थे। इसके अतिरिक्त इस श्रेणी के राज्य में प्रशासन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा भी नहीं होता था। समस्त राज्य

१. ६।२।८ अर्थशास्त्र। २. ७।२।८ अर्थशास्त्र।
३. अराजकं हि नो राष्ट्रम्। ८।६७ अयोध्याकाण्ड, रामायण।

के सभी निवासी एकत्र होकर अपने इस राज्य के सम्यक् संचालन में हाथ बटाते थे और सभी के सहयोग से प्रशासन संचालित होता था।

परन्तु आचार्य कौटिल्य ने उपर्युक्त आचार्यों के कथित मतों का खण्डन किया है।[1] उन्होंने इन मतों के विरुद्ध अपना मत व्यक्त करते हुए वैराज्य की अपेक्षा द्वैराज्य को अच्छा राज्य बतलाया है। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने कुछ हेतु दिये हैं जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र में है। इस महत्वपूर्ण विषय पर उन्होंने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—द्वैराज्य का कलह पिता-पुत्र अथवा दो भाइयों के मध्य होता है। कलहकारियों का एक ही कुल होने के कारण उनका एक ही स्वार्थ होता है। इसलिए मंत्रियों द्वारा इसका निर्णय शीघ्र किया जा सकता है।[2] परन्तु वैराज्य को समग्र रूप में छीनकर विजेता राजा उसे अपना न मानते हुए उसका विनाश कर देता है और अपने राज्य में मिला लेता है,[3] अथवा उसका विक्रय कर देता है।[4] यदि इस राज्य (वैराज्य) के निवासी उस विजयी राजा के प्रति विरक्त हो जायं तो वह विजयी राजा ऐसे राज्य का त्याग कर चला जाता है।[5]

आचार्य कौटिल्य के उपर्युक्त मत की विवेचना करने के उपरान्त कतिपय तथ्यों तक पहुँच जाना आसान हो जाता है। वे तथ्य इस प्रकार हैं—द्वैराज्य दो राजाओं द्वारा शासित राज्य था। वे दोनों राजा एक ही कुल अथवा कुटुम्ब के सदस्य होते थे। चाहे पिता-पुत्र हों अथवा भाई-भाई। उनके मध्य होनेवाले कलह का कौटुम्बिक स्वरूप होने के कारण उनके मंत्रियों द्वारा उसका शमन सरलता से किया जा सकता था। इस श्रेणी के राज्यों पर बाहरी शत्रुओं द्वारा इतनी सरलता से विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी जितनी सरलता से वैराज्यों की विजय की जा सकती थी। आचार्य कौटिल्य का मत है कि विजयी राजा वैराज्य को अपना राज्य नहीं समझता था। आचार्य कौटिल्य के इस मत के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना होती है कि वैराज्य राजतंत्र अथवा नृपतंत्रात्मक राज्य से भिन्न राज्य होता था। वैराज्य उसके विजयी राजा के राज्य से भिन्न होता था, इस कारण वह विजयी राजा वैराज्य को अपना न समझ कर उस राज्य को क्षीण कर देता था, अर्थात् उसका उत्पीडन करता था। आचार्य कौटिल्य का यह मत स्वाभाविक है और स्वस्थ एवं दृढ़ हेतुओं पर आधा-

१. नेति कौटिल्यः ।८।२।८ अर्थशास्त्र। २. ९।२।८ अर्थशास्त्र। ३. १०।२।८ अर्थशास्त्र। ४. ११।२।८ अर्थशास्त्र। ५. १२।२।८ अर्थशास्त्र।

रित है। असमान संविधान के आधार पर संगठित एवं संचालित दो राज्यों में पारस्परिक व्यवहार ऐसा ही होना चाहिए। विजयी राजा अपने अधीन राज्य की शासन-प्रणाली को ही उत्तम समझ कर पराजित राज्य में भी उसे संचालित करने का यत्न किया करता है और इस प्रकार उस विजित राज्य को शासन व्यवस्था की दृष्टि से समान रूप दे देना अपना प्रधान कर्तव्य समझा करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विजयी राजा विजित राज्य के प्रति समयानुसार क्रूर एवं कठोर व्यवहार भी करने में संकोच नहीं करता है।

आधुनिक युग में भी विश्व के विविध राज्यों में अपना बल बढ़ाने के लिए प्रायः इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया जा रहा है। इतिहास इसका साक्षी है। विश्व में प्रत्येक राज्य इस ओर निरन्तर प्रयत्नशील दिखलाई पड़ता है कि संसार के विविध भू-भागों में ऐसे ही राज्यों की स्थापना होनी चाहिए जो शासन प्रणाली की दृष्टि से अपने राज्य की राजनीति के अनुरूप एवं समान हों। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विश्वव्यापी अनेक युद्ध भी होते रहे हैं। पूंजीवादी संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी सोवियत रूस राज्य में आज पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं गुप-चुप कलह के जो चिन्ह दिखलाई पड़ रहे हैं उसका मूल कारण यही है कि इन दोनों राज्यों के संविधानों के सिद्धान्तों में मौलिक असमानता है। इसलिए आचार्य कौटिल्य के उपर्युक्त मत से स्पष्ट है कि वैराज्य राजतंत्रात्मक अथवा नृपतंत्रात्मक श्रेणी के राज्यों से भिन्न राज्य होता था।

वैराज्य के विषय में आचार्य कौटिल्य ने दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह दिया है कि वैराज्य पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त विजयी राजा उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लेता है। परन्तु आचार्य कौटिल्य ने स्वप्रणीत अर्थशास्त्र में एक स्थल पर पराजित राजा के प्रति विजयी राजा का व्यवहार कैसा होना चाहिए, इस विषय में अपना मत व्यक्त किया है, जो विजित राज्य को विजेता के राज्य में सम्मिलित किये जाने का निषेध करता है। इस प्रसंग में उनका मत है कि पराजित राज्य की भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा कभी अधिकार न करे; परन्तु पराजित राजा के वंशजों को, उनकी योग्यता के अनुसार, उचित पदों पर नियुक्त कर देना चाहिए। यदि युद्ध में पराजित राजा का वध हो जाये तो उस राजा के पुत्र को उसके राज्य का राजपद दे देना चाहिए।[1] परन्तु आचार्य कौटिल्य के इन दोनों मतों

१. ४२–४३।१६।७ अर्थशास्त्र।

में बड़ा अन्तर है। इसका समाधान इसी दशा में हो सकता है जब कि यह मान लिया जाय कि वैराज्य जनतंत्रात्मक राज्य था, वह नृपतंत्रात्मक अथवा राजतंत्रात्मक राज्य न था, अन्यथा आचार्य कौटिल्य उस राज्य को विजेता राजा के राज्य में सम्मिलित किये जाने हेतु व्यवस्था कदापि न देते।

वैराज्य के विषय में आचार्य कौटिल्य ने इसी प्रसंग में एक और महत्वपूर्ण बात बतलायी है जो वैराज्य की जनता की विरक्ति से सम्बन्धित है। इस विषय में आचार्य कौटिल्य का मत है कि विजयी राजा के प्रति उसके द्वारा पराजित वैराज्य की जनता की विरक्ति हो जाने की सम्भावना रहती है और उसकी यह वृत्ति इस पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है कि उस राज्य पर विजेता राजा द्वारा शासन करना असम्भव हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस राज्य की जनता को विजेता राजा अपने नियंत्रण में ले आने में असमर्थ होकर उस पराजित राज्य को त्याग देता तथा निराश होकर लौट जाने के लिए बाध्य हो जाता है। इस कथन से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वैराज्य प्रत्यक्ष जनतंत्रात्मक राज्य होता था, उस राज्य के शासन के संचालन का सम्पूर्ण कार्यभार जनता धारण करती थी।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण में जिस वैराज्य का उल्लेख है वह जनतंत्रात्मक राज्य था और उसका संगठन एवं संचालन प्रत्यक्ष जनतांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर निर्माण किये गये वैराज्य संविधान के अन्तर्गत होता था। ऐसे राज्य में राजा नहीं होता था और न प्रतिनिधियों द्वारा ही राज्य शासन होता था। राज्य की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था राज्य के निवासियों के हाथों में होती थी। यह राज्य क्षेत्र की दृष्टि से छोटा होता था। विशाल क्षेत्र वाले राज्यों में वैराज्य संविधान का सफलतापूर्वक संचालन असम्भव है।

पारमेष्ठ्य संविधान—परमेष्ठि-यज्ञ का विधिवत अनुष्ठान कर लेने के उपरान्त पारमेष्ठ्य पद के लिए राजा का राज्याभिषेक किया जाता था; और इस प्रकार वह पारमेष्ठ्य-पद धारण करता था। परमेष्ठी नाम प्रजापति का है। उसी को परमेश्वर भी कहते हैं। पारमेष्ठ्य-संविधान का निर्माण इस प्रकार इस सिद्धान्त को आधार मानकर हुआ था कि सभी पर परमेश्वर का शासन है तथा सभी परमेश्वर के राज्य में रहते हैं, किसी व्यक्ति विशेष के राज्य में नहीं। ऐसे राज्य में राजा केवल जनसेवक के रूप में रहता हुआ जनकल्याण हेतु शासन करता है। पारमेष्ठ्य संविधान के अन्तर्गत संगठित एवं संचालित राज्य के प्रधान शासक का एकमात्र कर्तव्य था कि वह उस

राज्य में इस प्रकार प्रशासन की व्यवस्था करे जिससे प्राणियों का कल्याण हो सके। शासक और शासित दोनों वर्गों में यह भावना जाग्रत रहे कि राज्य की सम्पूर्ण चल और अचल सम्पत्ति परमेश्वर की है। इसलिए उस पर किसी एक व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्ति समुदाय मात्र का अधिकार नहीं है। सभी प्राणी अपनी-अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार नियमपूर्वक उसके सम्यक् एवं न्याययुक्त भोगने के अधिकारी हैं, उस पर अपनत्व किसी का भी नहीं है। वे सभी एक दूसरे के अधिकार की रक्षा करते हुए उसका भोग करने मात्र के अधिकारी समझे जाते थे।[1] इसलिए पारमेष्ठ्य राज्य का अधिपति अपने अधीन प्रजा के प्रति वही व्यवहार करे जो कि आदर्श पिता अपने पुत्र के प्रति करता है तथा प्रजा भी अपने राजा के प्रति आदर्श पुत्रवत् रहकर पिता के प्रति जैसा आचरण एवं व्यवहार होता है उसका अनुसरण करे।

वैदिक साहित्य में पारमेष्ठ्य संविधान पर किसी स्थल पर भी प्रकाश नहीं डाला गया है। अतः इस महत्वपूर्ण विषय पर विशेष सूचना देना सम्भव नहीं है।

माहाराज्य संविधान—जब कोई शक्तिशाली राजा किसी अपने शक्तिशाली शत्रु राजा को परास्त कर उसका वध कर देता था और तदुपरान्त उस शत्रु राजा के राज्य को अपने राज्य में मिला लेता था तब वह महाराज की उपाधि धारण करता था। इस महाराज के प्रधान राज्य को माहाराज्य और उस राज्य के संविधान को वैदिक भाषा में माहाराज्य संविधान की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार माहाराज्य के अधीन विशाल भूभाग होता था। इस श्रेणी के राज्य स्वभावतः विशाल होते थे। क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से राज्य अथवा वैराज्य की अपेक्षा माहाराज्य विशाल होते थे। माहाराज्य के विशेष लक्षणों का उल्लेख इसी पुस्तक के अध्याय छः के अन्तर्गत किया जा चुका है। अतः उन्हीं तथ्यों का उल्लेख यहाँ किया जाना उसकी पुनरुक्ति मात्र होगी। इसलिए माहाराज्य संविधान के विशेष परिचय हेतु पाठक उसी स्थल में वर्णित विषय-वस्तु का अध्ययन कर लें।

आधिपत्य संविधान—वैदिक भाषा में पति शब्द का प्रयोग पालन करने वाले के अर्थ में हुआ है। इसलिए अधिपति का तात्पर्य राज्य के प्रशासनाधिकारियों से था। इस प्रकार आधिपत्य संविधान के अधीन जिस राज्य का संगठन एवं संचालन होता था उसका शासन भार अधिपतियों के हाथ में रहता था। इस प्रकार के राज्यों को समझने

१. १।४० यजुर्वेद।

के लिए आधुनिक 'अधिकारीतंत्र (Bureauceatic State) सरकार' युक्त राज्य का अध्ययन करना आवश्यक है। सम्भवतः आधिपत्य राज्य आधुनिक युग के अधिकारी-तंत्र राज्यों के समकक्ष राज्य रहा होगा। इस श्रेणी के राज्यों में अधिपतियों अथवा अधिकारा वर्ग के हाथ में शासन की डोरी रहती थी।

स्वावश्य-राज्य संविधान—वैदिक साहित्य में स्वावश्य-राज्य अथवा उसके संविधान के विषय में किसी प्रसंग पर अल्प मात्रा में भी प्रकाश नहीं डाला गया है। इसके साथ ही वैदिक युग के उपरान्त के इतिहास में भी उसका उल्लेख नहीं मिलता है। अतः स्वावश्यराज्य-सविधान के विषय पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं। सम्भव है ऐस राज्य कुल-राज्य के रूप में रहे हों जिनमें सम्पूर्ण कुल स्वयं अपनी राज्य व्यवस्था संचालित करता था। स्वावश्य का अर्थ है अपने वश में।

विधि

वैदिक संहिताओं में कतिपय ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राज्यों में विधि का उदय हो चुका था और जन-जीवन में उसका विशेष महत्व था। ऋग्वेद के एक प्रसंग में सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी विधि की ओर संकेत उपलब्ध है। इस प्रसंग में ऋग्वेद में पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारो उसका नाती (पुत्री का पुत्र) होता है उसकी पुत्री नहीं; ऐसा लक्षित किया गया है। यदि पुत्र और पुत्री दोनों हों तो पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होगा पुत्री नहीं। पुत्री केवल विभूषित होकर विवाहित हो जाने की अधिकारिणी होती है। इस तथ्य की पुष्टि में ऋग्वेद के दो मंत्रों का भाषानुवाद यहाँ दिया जा रहा है जो इस प्रकार है—पुत्री के विवाहिता हो जाने के उपरान्त उसका पिता पुत्री के गर्भ से उत्पन्न नाती को (नप्त्यं) प्राप्त करता है। इस प्रकार जानकर सत्य की (ऋतस्य) व्यवस्था का आदर करता हुआ पुत्री का पिता अनुशासन करे जिससे (दुहितुः पिता) सेचन से प्राप्त पुत्र को प्राप्त करता हुआ सुखी चित्त से (मनसा) मान ले (संदधेत्)।[1] (यदि पिता मर जाये और उसके पुत्र और पुत्री दोनों हों तो) भाई अपनी बहन को अपने पिता की सम्पत्ति प्रदान न करे (न आरैक्), बहन को भोक्ता (पाणिग्रहीता) पति से गर्भ धारण योग्य बनाये। यदि माता-पिता (मातरः) पुत्र और पुत्री दोनों का जनन करें तो ऐसी दशा में भी पुत्र ही पिता के लिए पुण्य कृत्य

१. ३।३१।१ ऋग्वेद।

(सुकृतेः) करने वाला होता है (कर्ता); पुत्री केवल सुविभूषित कर दी जाती है।[1]

ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्रों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेदीय आर्य राज्यों में विधि का उदय हो चुका था और वैदिक आर्य उसके महत्व को समझने लगे थे। अथर्ववेद में भी इस विषय की ओर संकेत पाये जाते हैं। अथर्ववेद के एक सूक्त में समाज में ब्राह्मण की उत्कृष्टता का वर्णन है। इस वर्णन में ब्राह्मण के कतिपय विशेष अधिकारों का उल्लेख है। ब्राह्मण के इन विशेष अधिकारों की रक्षा का भार राज्य पर था। ब्राह्मण के इन विशेष अधिकारों में उसे कर-मुक्ति का विशेषाधिकार भी प्राप्त था।[2] ब्राह्मण के घातक को मृत्युदण्ड देने की व्यवस्था दी गयी है।[3] परन्तु इस व्यवस्था को क्रियात्मक रूप देने के लिए उसका विधि के रूप में आ जाना आवश्यक था। इसलिए अथर्ववेद की इन व्यवस्थाओं ने राज्य के विधि-संग्रह में स्थान अवश्य पा लिया होगा। इस प्रकार वैदिक युग के राज्यों में विधि एवं उसके निर्माण की सम्यक् व्यवस्था का उदय हो गया था।

वैदिक आर्य राज्य में विधि का विशेष महत्व था, इस तथ्य की पुष्टि इस आधार पर भी होती है कि वैदिक आर्य राजा विधि-रक्षक बतलाया गया है। वैदिक भाषा में धर्म शब्द का प्रयोग विधि (Law) के स्थान में हुआ है। वैदिक संहिताओं में राजा को वरुण की उपाधि दी गयी है।[4] इस तथ्य को शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वरुण धर्मपति (Protector of Law) है। इसलिए वरुण देव के अंश को धारण कर राजा भी धर्मपति अथवा धर्मरक्षक (विधिरक्षक) बन जाता है, और इस प्रकार राजा धर्मरक्षक अर्थात् विधिरक्षक है।[5] इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य राज्यों में विधि का विशेष आदर एवं महत्व था और राजा विधिरक्षक होता था। उसके अधीन राज्य में विधि के अनुसार प्रशासन होता था। विधि की रक्षा में असमर्थ राजा निन्दनीय समझा जाता था और वह पदच्युत एवं पदभ्रष्ट किये जाने योग्य हो जाता था।

विधि-निर्माण के साधन

वैदिक युग में विधि निर्माण कार्य आधुनिक युग के विधि-निर्माण कार्य से नितान्त

१. २।३१।३ ऋग्वेद। २. ३।१९।५ अथर्ववेद। ३. १४।१९।५ अथर्ववेद।
४. १६।१० यजुर्वेद। ५. ९।३।३।५ शतपथ ब्राह्मण।

भिन्न था। वैदिक आर्य राज्य में विधि-निर्माण कार्य किसी ऐसी सभा अथवा परिषद् द्वारा नहीं होता था जिसमें राज्य के निवासियों के सभी वर्गों, सभी दलों, सभी उप-जातियों आदि के प्रतिनिधि विधि-निर्माण कार्य हेतु एकत्र होते हों या जिसमें राज्य के निवासियों के सभी हितों का प्रतिनिधित्व एक साथ होता हो और इस प्रकार उस सभा अथवा परिषद् में राज्य के सभी निवासियों का प्रतिनिधित्व प्रत्येक दृष्टि से यथा-सम्भव संमिलित हो। इस प्रकार संगठन की दृष्टि से वैदिक आर्य राज्यों में विधि-निर्माण कार्य की योजना का अपना विशेष स्थान एवं महत्व था। इस दृष्टि से वैदिक आर्य राज्यों के विधि-निर्माण कार्य और आधुनिक राज्यों के विधि-निर्माण कार्य में बहुत बड़ा एवं उल्लेखनीय अन्तर पाया जाता है।

वैदिक साहित्य में इस विषय की जो सामग्री आज हमें उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राज्यों में विधि निर्माण के दो मुख्य साधन थे, जिन्हें आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के अनुसार आश्रम-विधि-निर्माण केन्द्र और स्थानीय विधि-निर्माण केन्द्र की संज्ञा देना उचित होगा। इस प्रसंग में विधि-निर्माण के इन दोनों साधनों का यथासम्भव परिचय यहाँ दिया जायगा।

आश्रम-विधि-निर्माण केन्द्र—आश्रम-विधि-निर्माण का उद्देश्य प्राणी मात्र के कल्याण हेतु विविध प्रकार की विधि का निर्माण करना था। यह कार्य ऐहिक सुख से परिपूर्ण नगरों में सम्पन्न होता सम्भव नहीं समझा गया था। इस कार्य के सम्पादन हेतु गहन वनों, पर्वतों की कन्दराओं में और नदियों के तटों पर स्थित अनेक आश्रम समर्थ समझे गये थे। यजुर्वेद के अनुसार ऐसे आश्रम विविध प्रकार के ज्ञान के स्रोत होते थे।[1] इसलिए ये आश्रम ही आश्रम-विधि-निर्माण के केन्द्र थे। मानव जीवन की अनेक समस्याओं पर इन आश्रमों में लोक कल्याण में लीन वीतराग ऋषियों द्वारा चिन्तन एवं मनन किया जाता था और उनके चिन्तन एवं मनन के आधार पर उनके उपायों एवं साधनों की खोज की जाती थी। इन समस्याओं के हेतु जिन उपायों एवं साधनों की इस प्रकार खोज कर ली जाती थी उनका उपयोग सर्व प्रथम इन्हीं आश्रमों में कर लिया जाता था। जब सम्बन्धित ऋषि को विश्वास हो जाता था कि जीवन सम्बन्धी अमुक सिद्धान्त, इस प्रकार किये गये उनके प्रयोग द्वारा, सत्य एवं जनहितकारी सिद्ध हो चुका है, तब वे अपने उस अनुभूत प्रयोग को सर्वसाधारण

१. उप ह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।१५।२६ यजुर्वेद।

तक पहुँचाने का सतत प्रयास करते थे। इस प्रकार से वे जीवन सम्बन्धी अनेक नियमों का निर्माण करते थे, जिससे सम्बन्धित प्राणी इन नियमों के अनुसार आचरण कर अपनी जीवन सम्बन्धी समस्या का समाधान करने में सफल हो सके। समय आने पर यही नियम विधि का रूप धारण कर लेते थे और वैदिक आर्य राज्य इन विधियों के अनुसार अपने अधीन प्रजा को आचरण करने के लिए बाध्य करने लगता था। इस प्रकार उक्त राज्य का राजा विधिरक्षक (धर्मपति) बनकर उनकी रक्षा करता रहता था। इस दृष्टि से ये आश्रम विधि-निर्माण-केन्द्र अथवा प्रगतिशील विधि-निर्माण के स्रोत बने रहते थे। विधि-निर्माण के इन केन्द्रों अथवा स्रोतों से विधि-निर्माण-धारा निरन्तर प्रवाहित रहती थी। विधि-निर्माण के इस साधन अथवा विधि-स्रोत को आधुनिक राजनीतिक भाषा में आश्रम-विधि-निर्माण केन्द्र अथवा स्रोत की संज्ञा देना न्यायोचित होगा।

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि हेतु वैदिक संहिताओं में अनेक संकेत उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के अन्तर्गत आये हुए जो दो मंत्र एवं अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के अन्तर्गत उपलब्ध जो मंत्र ऊपर उद्धृत किये गये है और जो क्रमशः सम्पत्ति के उत्तराधिकार एवं ब्राह्मण के विशेषाधिकार के विषय में हैं, वे आश्रम-विधि-निर्माण केन्द्र की ही उपज है। ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र विश्वामित्र ऋषि के नाम से हैं, इससे स्पष्ट है कि पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका नाती (पुत्री का पुत्र) होता है, पुत्री नहीं; इस विधि का जन्मस्थान विश्वामित्र-आश्रम था। भारतीय समाज में यह विधि अबाध रूप से वैदिक युग से निरन्तर सक्रिय रही। वर्तमान भारतीय गणतन्त्र शासन काल में इस पुरातन विधि में संशोधन कर पुत्री को भी अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मान लिया गया। ब्राह्मण के विशेषाधिकार सम्बन्धी विधि, जिसका उल्लेख ऊपर है, वह 'मयोभू' ऋषि के आश्रम की देन है। इसी प्रकार ब्राह्मण के विशेषाधिकार का भी समय व्यतीत होने के साथ-साथ अनुकूल परिस्थिति के आने पर अन्त हो गया।

वैदिक युग में अनेक ऐसे ऋषि हुए है जिन्होंने आश्रम में जीवन व्यतीत कर मानव जीवन के सम्यक् संचालन हेतु विविध नियमों का निर्माण किया है। इन आश्रमवासी ऋषियों में प्रजापति, नारायण, गृत्समद, दीर्घतमा, विश्वामित्र, गौतम, उशना, भरद्वाज आदि अगणित ऋषि हुए हैं जिन्होंने आश्रमवासी बनकर मानव जीवन की जटिल से जटिल समस्याओं पर मनन एवं चिन्तन किया था और अपने इस मनन और

चिन्तन के आधार पर इन समस्याओं के निराकरण हेतु जीवन सम्बन्धी उपयोगी नियमों का निर्माण किया था। इनमें कुछ नियमों को राज्य ने मान्यता दे दी थी और वे तदनुसार ही उस राज्य में विधि बन गये थे।

इस प्रकार वैदिक आर्य राज्यों में इन ऋषि-आश्रमों ने विधि-निर्माण के साधनों अथवा स्रोतों का स्थान ग्रहण कर लिया था। इन आश्रम-विधि-निर्माण केन्द्रों में उन विधियों का निर्माण होता रहा है जिनका प्रभाव व्यापक था और प्राणिमात्र के कल्याण में निहित था। इन विधि-निर्माण केन्द्रों की सबसे महान् देन दलबन्दियों के कुप्रभाव से मुक्त एवं प्राणिमात्र के कल्याणयुक्त निष्पक्ष तथा स्वार्थरहित विधि का निर्माण करना था। आधुनिक युग की विधिपालिका का संगठन जिस रूप में होता है उसमें यह विशेषता होना सम्भव नहीं है। आधुनिक विधिपालिका दलबन्दी के कुप्रभावों से सुरक्षित नहीं रह सकती, इसलिए इसके द्वारा निर्मित विधि भी उक्त कुप्रभावों से बचे रहने में असमर्थ हो जाती हैं। इस दृष्टि से वैदिक युग में ऋषि-आश्रमों में जन्म लेने वाली ऋषि-प्रणीत विधि आदर्श विधि की श्रेणी में परिगणित की जा सकती है। परन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि इस श्रेणी की विधियाँ कभी-कभी अव्यावहारिक सिद्ध हो सकती हैं। इन विधियों के निर्माता जन-सम्पर्क में कम आते थे। अतः ऐसा होना स्वाभाविक है। इसलिए इन आश्रमवासी ऋषियों द्वारा जीवन सम्बन्धी जो नियम बनाये जाते थे उनमें सभी नियमों का अपनाना सम्भव न था। अतः उन नियमों के इन अव्यावहारिक अंशों को छोड़कर अवशेष अंशों को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाती थी और इस प्रकार राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त नियम राज्य में विधि का रूप धारण कर लेते थे।

स्थानीय विधि-निर्माण केन्द्र—मनुष्य के जीवन का कुछ अंश स्थानीय परिस्थितियों से आबद्ध रहता है। स्थानीय जल-वायु, भूमि, लोगों के आचार-विचार, उनके समाज का जीवन स्तर आदि ऐसे विषय हैं जो मनुष्य के समक्ष, समय-समय पर, स्थानीय समस्याएँ उपस्थित करते रहते हैं। इन स्थानीय परिस्थितियों के कारण मानव जीवन अनेक स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत विभक्त हो जाता है। इसीलिए वैदिक आर्यों के जीवन का कुछ अंश अनेक स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत आबद्ध होकर स्थानीय प्रभावों से विशेष प्रभावित होता रहता था। इन स्थानीय संस्थाओं में कुल महत्वपूर्ण संस्था थी।

कुल-विधि-निर्माण केन्द्र—वैदिक आर्य कुलों में विभक्त थे। प्रत्येक कुल अपने

विशेष प्रकार के जीवन को स्थिर रखने में अपना गौरव समझता था। अपने कुल की इस विशेषता को चिरस्थायी बनाने के लिए कतिपय विशेष नियमों के निर्माण करने और उनको सक्रिय रखने की आवश्यकता होती थी। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु नियमों का निर्माण किया जाता था जो कुलाचार के नाम से प्रसिद्ध होते थे। समय के साथ साथ यही कुलाचार प्रथाओं एवं परम्पराओं में परिणत होकर परम पुनीत बन जाते थे। इनका उल्लंघन घोर पाप समझा जाता था। प्रत्येक प्रकार से इनकी रक्षा हेतु व्यवस्था की जाती थी। राज्य इन कुल-प्रथाओं एवं परम्पराओं को मान्यता देता था और इस प्रकार ये राज्य की विधि का रूप धारण कर लेती थीं। इस प्रकार आर्य राज्यों में कुल-प्रथाएँ एवं कुल-परम्पराएँ विधिस्रोत थीं और यही कुल विधि-निर्माण केन्द्र थे।

आर्य-जनवर्गविधि-निर्माण केन्द्र—ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में समाज के निर्माण की प्रक्रिया का भी वर्णन है। इसके अनुसार समाज के निर्माण का आधार कार्य विभाजन सिद्धान्त है। आर्य लोगों के समाज का निर्माण इसी सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने के लिए हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार आर्य लोगों को चार मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है। ये चार वर्ग समय व्यतीत होने के साथ-साथ विकास को प्राप्त हो गये और चार वर्गों के रूप में आर्य जनता में प्रस्तुत हुए। ऋग्वेद के अनुसार आर्यजन का यह विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम के वर्गों में हुआ था। इन चारों वर्गों के लोगों के जीवन की रूपरेखा किन्हीं अंशों में विशेषता पूर्ण थी। प्रत्येक वर्ग के इस विशेष जीवन स्तर को चिरस्थायी बनाने के लिए इनके कुछ नियम थे जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता था। राजा इन नियमों में परिवर्तन करने का अधिकारी न था। वह इन नियमों का पालक मात्र था। इस प्रकार ये नियम भी राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेते थे और तदनुसार विधि का रूप धारण कर लेते थे। इस प्रकार वैदिक युग मे आर्य लोगों के वर्ग भी विधि-निर्माण के केन्द्र थे।

इस प्रकार वैदिक युग में स्थानीय सस्थाएँ, स्थानीय प्रथाएँ, परम्पराएँ आदि स्थानीय-विधि-निर्माण केन्द्र थे।

वैदिक विधिपालिका के कार्य

वैदिक विधिपालिका (विधि-निर्माण केन्द्र) का एकमात्र कार्य राज्य के निवासियों के निमित्त समय की प्रगति के अनुसार (देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए) विधि-निर्माण करना एवं प्राचीन अनुपयोगी तथा काल-बाधित विधियो को अपदस्थ

करना और इस प्रकार राज्य में विधियों को अनुपयोगी एवं काल-बाधित हो जाने से सुरक्षित रखते हुए लोक-कल्याणयुक्त बनाये रखना था। इस प्रकार वैदिक युग में विधि-पालिका विधि निर्माणकारी, विधि संशोधक तथा अनुपयुक्त एवं अनावश्यक विधियों को अपदस्थ करने वाली संस्था थी।

आधुनिक युग में भी विधिपालिका इस महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करती है। परन्तु आधुनिक विधिपालिका के कर्तव्य क्षेत्र की सीमा का अन्त यहीं पर नहीं हो जाता। उसे अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करने पड़ते हैं। सामयिक राजनीति पर वाद-विवाद करना और उस वाद-विवाद के आधार पर राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य नीति का निर्धारण करना भी आधुनिक राज्यों की विधिपालिका के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। वाद-विवादों एवं वक्तव्यों द्वारा राज्य की विविध नीतियों का सन्तुलन करना एवं विविध प्रकार के विरोधों का हेतुओं द्वारा शमन कर परस्पर समझौता कराना भी इसी का कार्य निर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय वित्त के संचय के साधन, उसकी वृद्धि के उपायों तथा उसके सम्यक् व्यय की योजना आदि का प्रस्तुत करना एवं उन्हें स्वीकार करना विधिपालिका के ही कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है। राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय ऋण, राष्ट्रीय व्यय आदि की योजनाएँ भी विधिपालिका द्वारा ही स्वीकृत होती हैं। आधुनिक विधिपालिका का एक और महत्वपूर्ण कार्य, दायित्वपूर्ण सरकार के रूप में मंत्रिमण्डल का निर्माण करना एवं उसे नियंत्रण में रखना होता है। विधिपालिका अपने सदस्यो पर पूर्ण नियंत्रण रखती है। उनके विरुद्ध लाये गये आरोपों को सुनती है और उन पर अपना निर्णय देती है; आदि ऐसे कार्य हैं जो आधुनिक विधिपालिका के कार्यक्षेत्र की सीमा में आते हैं।

परन्तु वैदिक युग में विधिपालिका इन कार्यों के उत्तरदायित्व से मुक्त समझी जाती थी। विधि निर्माण करना और विधि को लोकोपयोगी एवं समय की प्रगति तथा माँग के अनुकूल बनाये रखना मात्र कार्य वैदिक विधिपालिका के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत निर्धारित किया गया था।

अध्याय ८

राज्य के उच्च कार्यकर्ता

राज्य में कार्यकर्ताओं की आवश्यकता

राज्य संचालन महान् कार्य है। उसके सम्यक् संचालन हेतु अकेला राजा पर्याप्त नहीं होता। इस कार्य के विधिवत् सम्पादन हेतु विविध ज्ञान-सम्पन्न अनेक पुरुषों के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता होती है। ये पुरुष अपनी विशेष योग्यता, विशेष गुणों, अनुभव एवं कार्य कौशल के अनुसार राज्य-संचालन में राजा का हाथ बँटाते रहते हैं। राज्य-संचालन हेतु राज्य में कार्यकर्त्ताओं की कितनी महान् आवश्यकता है, इस विषय में वैदिक युग के बहुत पश्चात् राजशास्त्र के विचारकों ने मत व्यक्त किये हैं। इस महत्व-पूर्ण विषय पर मनु ने कहा है—'जब कि सरल से सरल कार्य भी अकेला पुरुष सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता, तो विशेष फल देने वाले राज्य सम्बन्धी कार्य अकेला मनुष्य सिद्ध करने में कैसे समर्थ हो सकता है।'[1] प्रमुख राजशास्त्र-प्रणेता महात्मा भीष्म ने भी इस विषय पर अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'सम्पूर्ण सद्गुणों से सम्पन्न एक ही व्यक्ति हो, ऐसा सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति में राज्य के सम्यक् संचालन हेतु राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह विविध विषयों के ज्ञाता एवं अनुभवी अनेक गुणी पुरुषों का सहयोग ले एवं परामर्श करे।'[2] शुक्रनीति के प्रणेता ने भी इन्हीं मतों की सम्पुष्टि की है—'कार्य छोटे से छोटा क्यों न हो परन्तु एकमात्र मनुष्य के द्वारा उसका विधिवत् सिद्ध होना असम्भव है। जब छोटे से छोटा कार्य अकेला मनुष्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं है तो फिर असहाय मनुष्य से राज्य-संचालन जैसा विशाल कार्य किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा।'[3] मौर्य युग के प्रमुख राजशास्त्र-प्रणेता आचार्य कौटिल्य ने राज्य की समता दो पहियों वाली गाड़ी से की है। इस गाड़ी में राजा केवल एक पहिया है। गाड़ी का दूसरा पहिया राजा के सहयोगी कार्यकर्ता होते हैं। जिस प्रकार

१. ६, ७५।३ अथर्ववेद। २. ३।७।१ तैत्तिरीय ब्राह्मण।
३. १।१।३।५ शतपथ ब्राह्मण।

गाड़ी का एक पहिया मार्ग पर नहीं चल सकता उसी प्रकार राज्य-संचालन कार्य एक-मात्र राजा द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके सम्यक् संचालन हेतु राजा के सहयोगी कार्यकर्ताओं की नितान्त आवश्यकता होती है।[1] इस प्रकार राज्य-संचालन हेतु विविध गुणों एवं योग्यताओं से संपन्न अनेक अनुभवी कार्यकर्ताओं के सक्रिय सहयोग की परम आवश्यकता है।

कार्यकर्ता विषयक सामग्री

वैदिक संहिताओं में इस प्रकार की सामग्री अति अल्प है जिसके आधार पर वैदिक राज्य के कार्यकर्ताओं के विविध पदों, कर्त्तव्यों एवं अधिकारों, कार्यविधि तथा कार्यक्षेत्र आदि के वास्तविक स्वरूप का बोध कराया जा सके। परन्तु यत्र-तत्र कतिपय ऐसी प्रार्थनाएँ प्राप्त हैं जिनमें वैदिक देवों से विविध प्रकार की याचनाएँ की गयी हैं। इन प्रसंगों में देवों के गुण-गान करते हुए कहीं-कहीं उनका राज्य के कतिपय कार्यकर्ताओं के रूप में वर्णन किया गया है। इन प्रसंगों का अध्ययन करने के उपरान्त वैदिक आर्य राज्य के कतिपय कार्यकर्ताओं का संक्षिप्त परिचय किसी अंश तक मिल जाता है।

उपर्युक्त अति अल्प एवं संकीर्ण सामग्री के अतिरिक्त इस विषय की कुछ और भी सामग्री है जो वैदिक साहित्य में राजा के राज्याभिषेक के विविध कृत्यों के वर्णन में पायी जाती है। इन कृत्यों में राज्य के कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख है। इन विशिष्ट व्यक्तियों को राजकर्ता नाम से सम्बोधित किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि इन विशिष्ट व्यक्तियों की कृपा एवं उनके सहयोग से भावी राजा राजपद प्राप्त करता था। इन्हें 'रत्निन्' भी कहते थे। राजा की मंत्रिपरिषद् का मुख्य स्रोत वैदिक संहिताओं में उल्लिखित यही विशिष्ट व्यक्ति वैदिक रत्निन् होते थे।

अथर्ववेद में ये पाँच राजकर्ता बतलाये गये हैं[2]—रथकार, कर्मार (शिल्पी), सूत, ग्रामणी और राजगण...। राजगण का तात्पर्य भावी राजा के, जिसके अभिषेक का प्रस्ताव है, कुटुम्बी गण तथा अन्य राजगण से जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह संख्या बढ़कर बारह हो गयी, जो इस प्रकार है—ब्राह्मण (पुरोहित), राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृक्ति, सूत, सेनानी, ग्रामणी, क्षत्रिय, संगृहीता, भागदुघ और अक्ष-

१ मैत्रायणी संहिता। २. ६,७५।३ अथर्ववेद।

बाप।[1] परन्तु कुछ विद्वान् राजन्य का तात्पर्य उस व्यक्ति से लेते हैं जिसका अभिषेक होने जा रहा है। इस मत के अनुसार उक्त सूची से राजन्य को पृथक् कर केवल ग्यारह राजकर्ता माने जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस सूची में दो राजकर्ता और बढ़ाये गये हैं। वे हैं गोविकर्त्तन और पालागल।[2] मैत्रायणी संहिता में दो राजकर्ताओं की और वृद्धि की गयी है जो तक्षण और रथकार हैं।[3] पंचविंश ब्राह्मण में सूची छोटी कर दी गयी है। इसमे जिस क्षत्रिय का राज्याभिषेक हो रहा है उसका भ्राता, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामीण, क्षत्रिय और संगृहीता हैं।[4]

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर वैदिक राज्य के कार्यकर्ताओं का यथासम्भव परिचय नीचे दिया जायगा। शतपथ ब्राह्मण में उपर्युक्त राजकर्ताओं को दो श्रेणियों मे परिगणित किया गया है जिन्हें राजवंशीय और अराजवंशीय राजकर्ता नाम से सम्बोधित किया गया है ('राजानो राजकृतः' और 'अराजानो राजकृतः')।[5] प्रथम श्रेणी के राजकर्ता राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृक्ता, भावी राजा का भ्राता, भावी राजा का पुत्र और क्षत्रिय है। क्षत्रिय का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसका राज्याभिषेक होने जा रहा है। राजन्य राजसत्ताधारी क्षत्रिय गण, राजा की पटरानी महिषी,[6] राजा की प्रिय पत्नी वावाता और त्यागी हुई पत्नी को परिवृक्ता नाम से सम्बोधित किया गया है। उपर्युक्त राजवंशीय राजकर्ताओं को अनुकूल रखने की आवश्यकता इसलिए थी कि ये लोग राजघराने के होने के कारण भावी राजा के विरुद्ध षड्यंत्र न रच दें और इस प्रकार रचित षड्यंत्र के कारण उसके राज्याभिषेक में विघ्न न पड़ जायें। 'अराजानो राजकृतः' अर्थात् अराजवंशीय राजकर्ताओं का यथा सम्भव परिचय इस प्रकार है—

(१) **ब्राह्मण अथवा पुरोहित**—राजा के धार्मिक कृत्य[7] करने वाला ब्राह्मण पुरोहित कहलाता था। वह राजगुरु होता था और समय-समय पर आवश्यकतानुसार परामर्श एवं मंत्रणा देता था, पुरोहित राजा के साथ युद्ध के समय भी रहता था और उसकी विजय हेतु प्रार्थना करता था। राजा का सबसे अधिक हितचिन्तक पुरोहित माना

१. ३।७।१ तैत्तिरीय ब्राह्मण।
२. १।१।३।५ शतपथ ब्राह्मण।
३. ४।१।१९ पञ्चविंश ब्राह्मण।
४. ५।६।२ मैत्रायणी संहिता।
५. १८।२।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।
६. ४।६।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।
७. ४।६।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।

जाता था। पुरोहित शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्काचार्य ने निरुक्त में लिखा है—'पुर एनं दधति, होत्राय वृतः।'[1]

कैसा ब्राह्मण राजा का पुरोहित होना चाहिए इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में बतलाया गया है कि जो ब्राह्मण तीन पुरोहितों और उनके तीन पुरोधाताओं का पूर्ण ज्ञाता हो, वह राजा का पुरोहित होना चाहिए। ये तीन पुरोहित अग्नि, वायु और आदित्य और उनके क्रमशः तीन पुरोधाता पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं। राजा के लिए पुरोहित की आवश्यकता व्यक्त करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में बतलाया गया है—'जिस राजा का ऐसा ब्राह्मण राष्ट्र का रक्षक पुरोहित होता है, दूसरे राजा गण उस राजा के मित्र बन जाते है और वह अपने शत्रुओं को जीत लेता है। वह क्षत्र से क्षत्र को और बल से बल को जीत लेता है। जिस राजा का ऐसा राष्ट्ररक्षक ब्राह्मण पुरोहित होता है उसकी प्रजा (विशः) उसको निरन्तर एवं एकमत होकर नमन करती है।'[2]

(२) सेनानी—राज्य को स्थायी बनाने एवं उसे बाह्य तथा आन्तरिक भयों से सुरक्षित रखने के लिए सेना नितान्त आवश्यक है। राज्य के विरुद्ध बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक उपद्रवों से राजा और प्रजा की रक्षा करने के लिए सेना का संगठन किया जाता है। यह सेना एक विशेष पदाधिकारी के अधीन रहती है। वैदिक आर्य राज्यों में भी सेना का संगठन किया गया था और उसे एक सर्वोच्च पदाधिकारी की देख-रेख में रखा जाता था। सेना का यह सर्वोच्च अधिकारी सेनानी कहलाता था। वैदिक आर्य राजा के रत्नों में सेनानी सर्वोच्च रत्न था। भावी राजा के राज्याभिषेक सम्बन्धी यज्ञ के अवसर पर राजा सेनानी के निमित्त सर्वप्रथम आहुति देता था। प्रस्तावित राजा की नियुक्ति में उसका महत्वपूर्ण स्थान होता था। ऋग्वेद के नवें मण्डल के एक सूक्त में सोम को राजपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। सोम राजा शत्रु विजय हेतु अपनी सेना के साथ शत्रु से गौएँ प्राप्त करने के लिए रणस्थल की ओर गमन करते हुए वर्णित है। इस अवसर पर उसकी सेना के आगे-आगे सेनानी इस सेना का संचालन करता हुआ, उत्साह एवं उल्लास के साथ गमन करता हुआ दिखलाया गया है। उसकी सेना भी अपने सेनानी के अधीन हर्षोल्लास पूर्वक पीछे-पीछे गमन करती हुई वर्णित है।[3]

१. १२।२ यास्काचार्यकृत निरुक्त। २. २७।५।८ ऐतरेय ब्राह्मण।
३. ९।९।९ ऋग्वेद।

यजुर्वेद में एक स्थल पर सेनानी वेश में रुद्र की स्तुति की गयी है। इस स्तुति का भाव इस प्रकार है—'ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त अथवा चमचमाते हुए बाहुरक्षक धारी, सेनानी वेशधारी रुद्र को नमस्कार है।'[1] इसी प्रकार यजुर्वेद में, कई प्रसंगों में सेनानी का उल्लेख है। यजुर्वेद के एक प्रसंग में सूर्यदेव का वर्णन राजा के रूप में है। इस प्रसंग में उनका सेनानी उनके रथ के अग्रभाग में आसीन वर्णित है।[2]

इस प्रकार वैदिक आर्य राज्यों में सेनानी नाम का पदाधिकारी राज्य का सर्वोच्च सैनिक अधिकारी और राज्य के उच्च कार्यकर्ताओं में प्रमुख था। सेनानी-पद आधुनिक काल के सेनापति-पद के समान था।

(३) **ग्रामणी**—वैदिक आर्य राज्यों के उच्च कार्यकर्ताओं में ग्रामणी का स्थान भी सेनानी के समान ही महत्वपूर्ण होता था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सूक्त में दक्षिणा के महत्व का वर्णन है। इस सूक्त में, दक्षिणा देने से दाता पुण्यभागी बनता है; उसे यश प्राप्त होता है; उत्सव एवं समारोहों में वह प्रथम आमंत्रित किया जाता है; वह राजपद पाने का अधिकारी बन जाता है, आदि शब्दों से दक्षिणादाता की प्रशंसा की गयी है। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि दक्षिणादाता ग्रामणी पद पाता है।[3] ऋग्वेद के इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राज्यों में ग्रामणी पद विशेष महत्वपूर्ण एवं सम्मानित पद था। यजुर्वेद में भी ग्रामणी-पद विशेष महत्वपूर्ण एवं सम्मानित बतलाया गया है। उसमें कई ऐसे प्रसंग है जिनमें सेनानी और ग्रामणी का उल्लेख साथ-साथ है।[4] इससे यह अनुमान होता है कि ग्रामणी पद भी सेनानी पद के समान ही, वैदिक आर्य राज्यों में महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित होता था। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में वैदिक राज्यों के विविध व्यवसायियों, शिल्पियों, कार्यकर्त्ताओं आदि का संकेत रूप में उल्लेख है। इसी प्रसंग में ग्रामणी की ओर भी संकेत मिलता है। इस संकेत में ग्रामणी को सम्मान का पात्र बतलाया गया है।[5] यजुर्वेद में कतिपय ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि युद्धकाल में ग्रामणी भी सेनानी के साथ रथ में आसीन होकर सेना के अग्र भाग में रहता हुआ आगे-आगे गमन करता था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि ग्रामणी असैनिक और सैनिक दोनों प्रकार का संयुक्त पदाधिकारी था जिसके सैनिक और असैनिक दोनों श्रेणी के कर्तव्य थे।

१. १७।१६ यजुर्वेद। २. १५।१५ यजुर्वेद। ३. ५।१०७।१० ऋग्वेद।
४. १५ से १९।१५ यजुर्वेद। ५. २०।३० यजुर्वेद।

अथर्ववेद में ग्रामणी वैदिक राजा के रत्नों में एक महत्वपूर्ण रत्न बतलाया गया है। अथर्ववेद के इस प्रसंग में, प्रस्तावित राजा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर पर्ण-मणि को सम्बोधित करता है—हे पर्ण ! ग्रामणी को मेरा सहायक बना।[1] ब्राह्मण ग्रंथों में भी ग्रामणी राज्य के उच्च कार्यकर्ता के रूप में वर्णित है।

ग्रामणी पद का वास्तविक अर्थ ग्रामनेता अथवा जनसमूह का नेता था, यह स्पष्ट नहीं है। कतिपय विद्वानों ने ग्रामणी का ग्रामनेता के रूप में वर्णन किया है। परन्तु कतिपय अन्य विद्वानों ने उसे जननेता माना है। वाल्मीकीय रामायण में भी ग्रामणी का उल्लेख प्रतिष्ठित पदाधिकारियों में है।[2] महाभारत में ग्रामणी जननेता के रूप में वर्णित है।[3]

(४) सूत—वैदिक साहित्य में सूत का उल्लेख है। यजुर्वेद में एक स्थल पर सूत-वेशधारी रुद्र की स्तुति की गयी है और सूत के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है।[4] भाष्यकारों ने इस प्रसंग में सूत को सारथि माना है। उनका मत है कि इस प्रसंग में सूत का विशेष लक्षण दूसरे को न मारने वाला (अहन्त्यै) है। सूत युद्ध में रथ-संचालन करता था। वह योद्धा रूप में कार्य नहीं करता था, अर्थात् दूसरे (शत्रु) को मारता नहीं था। परन्तु कुछ विद्वान 'अहन्त्यै' पद का अर्थ अवध्य करते हैं। उन के मतानुसार सूत राजा का प्रशस्तिकार अथवा विशेष ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन कर्ता होता था। वह युद्ध में भाग नहीं लेता था, केवल युद्ध की घटनाओं का संचय कर्ता था। इसी कारण उसे अवध्यता का अधिकार दिया गया था। सूत के इस विशेष लक्षण की ओर ही यजुर्वेद के इस मंत्र में संकेत है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के एक मंत्र में इस विषय की अप्रत्यक्ष रूप में पुष्टि की गयी है। इस मंत्र में सूत का सम्बन्ध नृत्त से जोड़ा गया है और स्पष्ट बतलाया गया है कि सूत की उत्पत्ति नृत्त के लिए (नृताय सूतम्) हुई है।[5] नृत्त उपयोगी कला है। इस कला द्वारा मनुष्य अपने इंगित, आकार, चेष्टा तथा शरीर के विविध अंगों द्वारा भाव व्यक्त करता है। इस संकेत से ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक सूत का स्वरूप लगभग वही था जो कि मध्यकालीन भारतीय नरेशों के दरबारों में राजा के प्रशस्तिकारों का होता था जिन्हें राजपूत युग में भाट कहते थे। दिल्ली नरेश पृथ्वीराज का राजकवि अथवा दरबारी

१. ७।५।३ अथर्ववेद। २. १६।११७ युद्धकाण्ड। ३. १०, ११।१३५ शान्तिपर्व।
४. १८।१६ यजुर्वेद। ५. ६।३० यजुर्वेद।

भाट पृथ्वीराजरासो का प्रणेता चन्द्र नामक प्रशस्तिकार था। मध्यकालीन भारतीय नरेशों के दरबारों में रहने वाले ये प्रशस्तिकार अपने स्वामी की प्रशस्ति में काव्यरचना कर उसे अनुकूल अवसरों पर बड़े हाव-भाव के साथ प्रदर्शित करते थे। मध्यकालीन भारतीय नरेशों के इन्ही प्रशस्तिकारों के समान वैदिक सूत भी रहा होगा। वह अपने स्वामी राजा से सम्बन्धित विशेष घटनाओं का संग्रहकार भी होगा।

अथर्ववेद में सूत राजा के रत्नों अथवा राजकर्ताओं में परिगणित किया गया है। वैदिक राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर उसे राजपद देने को सूत की भी अनुमति वांछनीय होती थी। अथर्ववेद के इसी प्रसंग में अपने राज्याभिषेक के अवसर पर प्रस्तावित राजा पर्णमणि को सम्बोधित करता हुआ कहता था—हे पर्ण! सूत को मेरा सहायक बना।[1] शतपथ ब्राह्मण में भी ग्रामणी और सूत को राजा के रत्नों अथवा राजकर्ताओं में उचित स्थान दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण से सम्बन्धित प्रसंग में इन दोनों को 'अराजवंशीय राजकर्ताओं' (यथा वै राज्ञोऽराजानो राजकृत:) की श्रेणी में परिगणित किया गया है।[2]

रामायण-महाभारत में भी सूत का उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में सूत राजा की मंत्रिपरिषद् का एक सदस्य बतलाया गया है। इस प्रसंग में सूत का प्रधान कर्त्तव्य अपने समय की, विशेष रूप में अपने स्वामी राजा से सम्बन्धित, ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन करना था। मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु सूत की योग्यता एवं उसके गुणों का वर्णन करते हुए भीष्म ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'आठ गुणों (सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहन, अपोहन, विज्ञान और तत्त्वज्ञान) से युक्त, अगल्भ, अनसूयक, पचास वर्षीय, श्रुति और स्मृति का ज्ञाता, विनीत, समदर्शी, कार्य में विवदमान पुरुषों में समर्थ, सात प्रकार के घोर व्यसन रहित और पौराणिक सूत होना चाहिए।'[3] महाभारत के इस उद्धरण के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक सूत भी राजा के समीप रहता हुआ इसी श्रेणी का कार्य करता होगा।

(५) **क्षत्रिय**—राजा के छत्र को धारण करने वाले अथवा उसकी रक्षा का भार ग्रहण करने वाले क्षत्रिय को इस प्रसंग में क्षत्रिय का पद दिया गया है।

(६) **संगहीता**—संगृहीता को अर्थ विभाग का विशेष पदाधिकारी विद्वानों

१. ७।५।३ अथर्ववेद। २. १८।२।२।१३ शतपथ ब्राह्मण।
३. ९ से ११।८५ शान्तिपर्व, महाभारत।

ने माना है। वह भी राजकर्ताओं में था। राज्याभिषेक के समय प्रस्तावित राजा के राज्याभिषेक के प्रस्ताव पर उसकी भी अनुमति वांछनीय थी। इस पदाधिकारी के विशेष परिचय हेतु इसी पुस्तक के कोश नामक अध्याय में संगृहीता नाम के पदाधिकारी सम्बन्धी वर्णन द्रष्टव्य है।

(७) **भागदुघ**—भागदुघ को भी अर्थ विभाग का विशेष कर्मचारी बतलाया गया है। उसका मुख्य कर्त्तव्य राज्य की जनता से कर संचय कर उसे राजकोश में संगृहीत करना माना गया है। इस कार्यकर्त्ता का भी वर्णन इसी पुस्तक के कोश नाम के अध्याय में पठनीय है।

(८) **अक्षवाप**—भाष्यकारों ने अक्षवाप पदाधिकारी को द्यूत ध्यक्ष माना है। ऋग्वेद में द्यूत की विशेष निन्दा की गयी है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेदीय आर्य राजाओं ने द्यूत पर नियंत्रण रखने के लिए इस पदाधिकारी की आवश्यकता अनुभव की होगी। इसलिए अक्षवाप को राज्य के उच्च कार्यकर्ताओं में स्थान दिया गया है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार अक्षवाप अर्थ विभाग का एक विशेष अधिकारी था जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित अक्ष-पटल नाम के पदाधिकारी के समकक्ष था।[1] यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में अक्षराज का उल्लेख है।[2] परन्तु यह अक्षवाप से भिन्न है। अक्षराज परम प्रवीण जुआरी अर्थात् जुआरियों का सरदार होता था।

(९) **गोविकर्ता**—गो शब्द वैदिक भाषा में सामान्य पशुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक राज्यों में वन अपेक्षाकृत अधिक थे। इन वनों (अरण्य) को साफ कर आर्य-बस्तियाँ स्थापित की जाती थीं और अरण्य-भूमि कृषि-भूमि में यथासम्भव परिणत की जाती थी। वैदिक अरण्यों में अरण्य पशु अधिक संख्या में होते थे। उनसे अरण्य शुद्ध करना आवश्यक था। इसलिए उनके इस कार्य की सिद्धि हेतु एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति आवश्यक थी। इस विशेष पदाधिकारी को गोविकर्ता के नाम से सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के एक मंत्र में 'गा विकृन्तन' नाम के एक अधिकारी की ओर संकेत है। संभव है यह गोविकर्ता ही होगा।[3] यह पदाधिकारी आधुनिक युग के वन अधिकारी (अरण्यपाल) के समकक्ष रहा होगा।

१. पृष्ठ २०२, २०३, डा० का० प्र० जायसवालकृत हिन्दू पालिटी।
२. १८।३० यजुर्वेद। ३. १८।३० यजुर्वेद।

यजुर्वेद के एक अन्य प्रसंग में रुद्र को वनों का पालन करने वाला (अरण्यपति) बतलाया गया है।[1] इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में वनों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

(१०) पालागल—पालागल राजा के आदेशों को निर्दिष्ट व्यक्तियों अथवा स्थान तक पहुँचाने वाला कर्मचारी था। उसका स्थान आधुनिक युग के 'हरकारा' (संदेशवाहक) के समकक्ष था।

राज्य के उपर्युक्त उच्च कार्यकर्ताओं के, जिन्हें वैदिक साहित्य में राजकर्ता कहा गया है, अतिरिक्त राज्य में सम्भवतः कतिपय अन्य राजकर्मचारी अथवा कार्यकर्ता भी थे। इनमें गणक, हस्तिप, अश्वप, श्वपति, परिचर, मागध, क्षत्ता आदि होते थे। इनका उल्लेख यजुर्वेद के सोलहवें तथा तीसवें अध्याय में संकेत रूप में है।

१. १८।१६ यजुर्वेद।

अध्याय ६

कोश

कोश का महत्त्व

छोटे-से-छोटे कार्य की सिद्धि हेतु धन नितान्त आवश्यक है, फिर भला राज्य-संगठन एवं उसके संचालन जैसा महान् कार्य धन के बिना क्योंकर सम्पन्न हो सकता है। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्रप्रणेताओं ने राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु धन परम आवश्यक बतलाया है और इस प्रकार उन्होंने कोश के महत्त्व को स्वीकार किया है। भारत के ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री आचार्य कौटिल्य के मतानुसार संसार में अर्थ ही प्रधान पदार्थ है।[1] उसी के अधीन धर्म और काम हैं।[2] इसीलिए उन्होंने कोश को राज्य का आधार माना है। उनका मत है कि राज्य सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रिया का आधार कोश होता है। इसलिए राजा सर्वप्रथम कोश-वृद्धि का चिन्तन करे और कोश-संग्रह करता रहे।[3] महाभारत में महात्मा भीष्म ने भी राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु राजा द्वारा कोश-संग्रह परम आवश्यक बतलाया है। उनका भी मत है कि राजा प्रयत्नपूर्वक निरन्तर कोश की रक्षा करता रहे। कोश ही राजाओं का मूल एवं उनकी वृद्धि का हेतु होता है।[4] कोश के महत्त्व का उल्लेख करते हुए भीष्म ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—'राजा का मूल कोश और सेना है। सेना का मूल कोश है। सेना सम्पूर्ण धर्मों का मूल है और धर्म ही प्रजा का मूल है। इसलिए सबके मूल कोश की वृद्धि करनी चाहिए।'[5] इस विषय में शुक्र का मत भी उल्लेखनीय है। उनका मत है कि राजा सेना, प्रजारक्षण और यज्ञ के निमित्त कोश का संग्रह करे।[5]

इस प्रकार राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु अर्थ परमोपयोगी पदार्थ है।

१. १०।७।१ अर्थशास्त्र। २. ११।७।१ अर्थशास्त्र। ३. १६।११९ शान्तिपर्व, महाभारत। ४. ३५।१३० शान्तिपर्व, महाभारत।
५. ११८।४ शुक्रनीति।

जब यह अर्थ राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु संचित कर राज्य के अधीन संगृहीत किया जाता है, तब कोश कहलाता है।

वैदिक संहिताओं में कुछ ऐसे संकेत प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य राज्यों में किसी न किसी रूप में कोश का उदय हो चुका था। चाहे वह स्थायी कोश के रूप में रहा हो अथवा अस्थायी रूप में। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि वैदिक राजकोश का स्वरूप आधुनिक राजकोश का पूर्व रूप मात्र था। परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों ने राज्य के संगठन एवं उसके संचालन हेतु कोश की आवश्यकता एवं उसकी उपयोगिता के महत्व को भली भाँति समझ लिया था। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि कोश के बिना राज्य का संगठन एवं उसका संचालन कदापि संभव नहीं है।

कोश संचय के प्रमुख साधन

वैदिक संहिताओं में राजकोश के सचय हेतु कतिपय साधनों की ओर संकेत किये गये है। इनसे ज्ञात होता है कि राजकोश के संचय के मुख्य दो साधन थे, जो राज्य की प्रजा से कर अथवा सहायता रूप में प्राप्त, और शत्रु राज्यों पर विजय के उपरान्त प्राप्त धन धान्यादि थे।

राज्य की प्रजा से कर अथवा आर्थिक सहायता—ऋग्वेद में कुछ ऐसे संकेत प्राप्त है जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक राजा विविध प्रकार के करों द्वारा अपनी प्रजा से धन संचय करता था। इनमें बलि और शुल्क मुख्य थे। इन करों का वास्तविक स्वरूप क्या था इसका इन संकेतों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। पहले बलि नामक कर के स्वरूप का यथासम्भव उल्लेख इस प्रसंग में किया जायगा।

(क) बलि—वैदिक राजा अपने अधीन प्रजा से जो कर रूप में धन-धान्य तथा अन्य सामग्री प्राप्त करता था उसे बलि नाम से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद में कई प्रसग है जिनमें इस ओर सकेत किया गया है कि देवों ने राजा को अपने अधीन प्रजा से बलि प्राप्त करने का अधिकारी बनाया है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के सूक्त छः के एक मंत्र में यह सकेत मिलता है कि अग्निदेव के प्रताप से राजपद से वंचित राजा नहुष बलपूर्वक अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करने का अधिकारी हो गया था।[1] इस प्रकार राजा नहुष अपने अधीन प्रजा से बलि ग्रहण करने लगा था। इसी प्रसंग

१. ५।६।७ ऋग्वेद।

में ऋग्वेद के एक मंत्र में इस विषय का उल्लेख है कि इन्द्र द्वारा राजा अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करने का अधिकारी बनाया गया है। इस मंत्र के उक्त अंश का भाव इस प्रकार है—'हे राजन् ! इन्द्र ने तुझे, तेरी प्रजा से बलि ग्रहण करने का एक मात्र अधिकारी बनाया है।' ऋग्वेद के इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता राजा है; अर्थात् उक्त सूक्त की विषयवस्तु राजपरक है। इस संकेत से बलि का तात्पर्य एक विशेष कर है जिसे प्रजा से वैदिक राजा प्राप्त किया करता था।

अथर्ववेद में भी कई स्थलों पर बलि (कर) का उल्लेख है। उसमे ब्रह्मौदन के महत्व का उल्लेख है। इस प्रसग में एक मंत्र में बतलाया गया है कि ब्रह्मौदन के प्रताप से मनुष्य अपनी जाति के लोगों से बलिग्रहण करता है।[२] इस मंत्र में ऋग्वेद की भाँति ही 'बलिहृत:' शब्द का प्रयोग किया गया है जिका अर्थ है बलि ग्रहण करने वाला। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का चतुर्थ सूक्त राज-परक है। इस सूक्त में प्रजा द्वारा राजा की संवरण सम्बन्धी प्रक्रिया का संक्षिप्त उल्लेख है। इसमें व्यवस्था है कि राजा प्रजा से पर्याप्त मात्रा में बलि ग्रहण करे।[३] इस प्रकार अथर्ववेद में इस मंत्र द्वारा राजा के बलिग्रहण करने के अधिकार की स्थापना स्पष्ट शब्दों में की गयी है। वेद के एक अन्य मंत्र में, सर्वाधार जगदीश्वर के लिए देवगण लोक से बलि ग्रहण करते रहते हैं, ऐसा वर्णित है।[४] इस प्रसंग में यह स्पष्ट है कि सभी देवगण उस एक परम शक्ति के राज्य में रहते हैं, अर्थात् वे उसकी प्रजा हैं और इस नाते अपने उस राजा के लिए सदैव बलि प्रदान करते हैं। इसी प्रसंग में एक मंत्र में लक्षित किया गया है कि उसी जगदाधार जगदीश्वर के लिए राजागण अपने राष्ट्रवासियों से बलि संचय किया करते हैं।[५]

उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि अथर्ववेद में बलि शब्द का प्रयोग एक विशेष कर के लिए हुआ है। वैदिक राजा अपने अधीन प्रजा से इस कर के द्वारा राजकोश का संचय समय-समय पर करता था।

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में यह संकेत किया गया है कि राज्य की जनता (विश:) अपने राजा के निमित्त (क्षत्रियाय) बलि संचय करती थी (बलिं हरन्ति स्म)।[६]

१. ६।१७३।१० ऋग्वेद।
२. ६।१।११ अथर्ववेद।
३. ३।४।३ अथर्ववेद।
४. ३९।७।१० अथर्ववेद।
५. १५।८।१० अथर्ववेद।
६. ११३।२।१५ शतपथ ब्राह्मण।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण मे भी बलि एक प्रकार का कर माना गया है। यह कर राज्य की जनता से प्राप्त किया जाता था और फिर इस प्रकार संचित धन-धान्य तथा अन्य सामग्री राजकोश में संचय हेतु राजा के पास भेज दी जाया करती थी।

ऐतरेय ब्राह्मण में बलि का उल्लेख कर रूप में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण की सातवीं पंजिका के पांचवें अध्याय के अन्तिम अंश में राजा के निमित्त सोमपान की प्रक्रिया का वर्णन है। इस प्रक्रिया के विधिवत् सम्पन्न होने के उपरान्त सोमपान करने का फल बतलाया गया है—'जो क्षत्रिय (प्रस्तावित राजा) यजमान इस विधि से सोमपान करता है उसकी श्री सूर्य के समान चम-चमाती है; सब दिशाओं से सूर्य के समान वह बलि ग्रहण करता है।' वैदिक संहिताओं में जिस बलि नाम के कर का उल्लेख है उसका वास्तविक स्वरूप क्या था, स्पष्ट नही है। परन्तु वैदिक युग के उपरान्त के संस्कृत के कतिपय ग्रंथों में प्रसंगवश इस कर के स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इन ग्रंथों में बलि का जो स्वरूप दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि प्रजा के रक्षणार्थ राजा द्वारा जो व्यवस्था की जाती थी उसके कार्यान्वित करने के लिए राजा को धन-धान्य आदि की आवश्यकता पड़ती थी। इस धन-धान्य आदि की प्राप्ति हेतु प्रजा अपने राजा को कर रूप में आवश्यक सामग्री प्रदान करती थी। इस कर को बलि कहते थे। बलि विशेष रूप में ग्रामवासियों पर लगाया जाता था और जो मास-मास अथवा वर्ष के अन्त में संगृहीत कर राजकोश में संचय हेतु भेजा जाता था। इन ग्रंथों में बलि की दर भी दी हुई है। इनमे आय का षडंश बलि की दर बतलायी गयी है। मनुस्मृति मे वह राजा अपने अधीन प्रजा के सम्पूर्ण पापों का वहन करने वाला बतलाया गया है जो कि अपनी प्रजा के धन-धान्य आदि का छठा भाग बलि के रूप में ग्रहण कर उसकी रक्षा नहीं करता है।[1] महाभारत में व्यवस्था दी गयी है कि जो राजा अपनी प्रजा की आय का छठा भाग बलि के रूप में ग्रहण करता है परन्तु उसकी सम्यक् रक्षा नहीं करता वह राजा डाकू (तस्कर) है।[2] मार्कण्डेय पुराण में उस राजा को नरक में वास करने का अधिकारी बतलाया गया है जो प्रजा की आय का षडंश बलि के रूप में ग्रहण करता है परन्तु उसकी रक्षा नहीं करता।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में

१. ३०८।८ मनुस्मृति। २. १००।३९ शान्तिपर्व, महाभारत।
३. १२६।१६ मार्कण्डेय पुराण।

बलि के विषय में जो संकेत प्राप्त हैं उनसे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में बलि नाम का एक कर था जो प्रजा रक्षण कार्य हेतु राजा द्वारा उस पर लगाया जाता था। सम्भवतः इस कर की दर प्रजा की आय का छठा भाग होती थी।

(ख) शुल्क—ऋग्वेद में शुल्क शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु प्रसंग से ज्ञात होता है कि शुल्क शब्द जिस अर्थ में स्मृतियों, गाथा काव्यों, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि में प्रयुक्त हुआ है उस अर्थ में ऋग्वेद में प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के प्रथम सूक्त के अन्तर्गत एक मंत्र में इन्द्र के विक्रय हेतु संकेत किया गया है। इस मंत्र में इस प्रकार वर्णन है—'इन्द्र! तुम्हें महाशुल्क के बदले में भी हम न बेचेंगे।'[1] इस संकेत से शुल्क के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता है। अथर्ववेद के एक मंत्र में स्वर्ग लोक (नाक) के कतिपय लक्षणों का वर्णन है। इस में कहा गया है कि नाक (स्वर्ग) लोक में निर्बल बली को शुल्क नहीं देता।[2] इस मंत्र से स्पष्ट है कि शुल्क एक प्रकार का कर था जो बलवान् (राजा) अपने अधीन अबल (असहाय) प्रजा से ग्रहण करता था। अथर्ववेद में एक अन्य स्थल पर ब्रह्मगवी (ब्राह्मण की गौ अथवा आत्मा) के महत्व का उल्लेख करते हुए व्यवस्था दी गयी है कि ब्रह्मज्ञानी (ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण) शुल्क-मुक्त रहते हैं।[3] इस संकेत से भी ऐसा अनुमान होता है कि शुल्क एक प्रकार का कर था जो राज्य के निवासियों से प्राप्त किया जाता था। ब्राह्मण इस कर से मुक्त रहते थे।

स्मृतिसाहित्य, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि में शुल्क आधुनिक चुंगी-कर के रूप में वर्णित है।[4] परन्तु यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि अथर्ववेद में शुल्क कर के रूप में वर्णित है, जिसका सम्बन्ध निर्बल तथा अबल अर्थात् राजा और उसकी प्रजा से था। इसके वास्तविक स्वरूप के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि शुल्क राजा की आय का एक साधन था।

इस प्रकार वैदिक राजा की आय का एक प्रधान साधन अपने अधीन प्रजा से करों के रूप में प्राप्त धन-धान्य तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री थी, जिन्हें वह राज्य संगठन एवं उसके संचालन हेतु और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध हेतु व्यय करता था।

१. ५।१।८ ऋग्वेद। २. ३।२९।३ अथर्ववेद। ३. ३।१९।५ अथर्ववेद।
४. ३०७।८ मनुस्मृति। २९।६९ शान्तिपर्व, महाभारत। १।२२।२ अर्थशास्त्र। २२।२१।२ अर्थशास्त्र। २१७, २१८।४ शुक्रनीति।

(ग) **विजय द्वारा प्राप्त धन**—राजा युद्ध में पराजित अपने शत्रु राजा से यथा-सम्भव धन-धान्य तथा अन्न सामग्री प्राप्त करता था; ऋग्वेद में ऐसे संकेत उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में शत्रु से अन्न लाभ की कामना की गयी है। इस प्रसंग में अग्नि देव से प्रार्थना की गयी है कि वह रणस्थल से शत्रु का अन्न लाभ कराये।[1] ऋग्वेद में अन्य स्थल पर देवों के राजा इन्द्र ने पणि जाति के राजा से उसके गोधन की प्राप्ति के लिए सरमा दूती के द्वारा तद्विषयक संदेश भेजा था। परन्तु पणि राजा ने गोधन देना अस्वीकार कर दिया, उसने स्पष्ट कह दिया कि युद्ध बिना इन्द्र को पणियों के गोधन की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] ऋग्वेद के इस संकेत से ज्ञात होता है कि युद्ध में पराजित राजा से विजयी राजा धन-धान्य, गोधन तथा अन्य पदार्थ दण्ड रूप में प्राप्त करता था। इस प्रकार प्राप्त धन-धान्यादि वैदिक राजा की आय का एक साधन था। ऋग्वेद के एक मंत्र में इन्द्र के शत्रुओं के इन्द्र के समीप से भागने और उनकी सम्पत्ति इन्द्र के हाथ आने की ओर संकेत किया गया है। इस मंत्र में इस प्रकार कामना की गयी है—हमने जिस इन्द्र की प्रार्थना की है वह धनिक है और उसने हमारी कामनाओं को पूर्ण किया है। इन्द्र के पास से शत्रु दूर भागें। शत्रु के अधीन लोगों का धन इन्द्र के हाथ आये।[3] इस सूक्त के एक मंत्र में कामना की गयी है कि इन्द्र अपने बल के प्रभाव से (शत्रु की) विशाल सम्पत्ति को जीत ले।[4] अन्य वैदिक संहिताओं में भी इन्हीं भावों से युक्त अनेक मंत्र हैं।

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर स्पष्ट है कि विजय द्वारा प्राप्त धन वैदिक राजा की आय का एक प्रमुख साधन था।

मुद्रा

मनुष्य की सुविधा हेतु क्रय-विक्रय की माध्यम, विविध प्रकार की मुद्राओं का निर्माण आवश्यकतानुसार समय-समय पर होता रहता है। प्राचीन काल में क्रय-विक्रय प्रधानतया विनिमय सिद्धान्त के आधार पर होता था। उस युग में मुद्राओं की संख्या एवं उनके प्रकार सीमित होते थे। वैदिक युग में भी क्रय-विक्रय का प्रधान माध्यम विनिमय ही था। परन्तु वैदिक संहिताओं में कुछ ऐसे भी संकेत उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस युग में किसी-न-किसी रूप में मुद्रा का आविष्कार हो

१. ५।७३।१ ऋग्वेद। २. ५।१०८।१० ऋग्वेद।
३. ६।४२।१० ऋग्वेद। ४. १०।४२।१० ऋग्वेद।

गया था और वैदिक आर्यों के दैनिक जीवन में उसका व्यवहार भी किसी-न-किसी रूप में होने लगा था। ऋग्वेद में निष्क नाम की मुद्रा का उल्लेख है।[1] अथर्ववेद में भी निष्क नाम की मुद्रा का उल्लेख है। अथर्ववेद के इस प्रसंग में यह भी संकेत किया गया है कि निष्क नाम की स्वर्णमुद्राएँ थीं जो सैकड़ों की संख्या में होती थी।[2]

वैदिक निष्क के आकार-प्रकार, उसके भार एवं मूल्य के विषय में वैदिक साहित्य में कुछ भी वर्णन नही है। अतः इन महत्त्वपूर्ण विषयों पर सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। इस विषय में केवल यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य निष्क नाम की स्वर्णमुद्रा का[3] व्यवहार करते थे। निष्क आभूषण के रूप में भी प्रयुक्त होता था; वैदिक संहिताओं इसका उल्लेख है

कोश-सचय हेतु कर्मचारी

वैदिक साहित्य मे कोश-संचय-व्यवस्था का वर्णन किसी प्रसंग मे भी उपलब्ध नही है। इसलिए इस महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला जाना असम्भव है। यजुर्वेद मे कतिपय राजकर्मचारियो की ओर सकेत किया गया है। इन कर्मचारियों मे कुछ कर्मचारी राजकोश-सचय कार्य से भी सम्बन्धित जान पड़ते हैं। ये कर्मचारी भागदुघ, सगृहीता और गणक है, यद्यपि इनके वास्तविक स्वरूप के विषय मे स्पष्ट प्रमाण का अभाव है।

भागदुघ—यजुर्वेद के तीसवें अध्याय मे विविध प्रकार के व्यवसायियों, कर्मचारियो, विशेष अधिकारियों आदि की ओर संकेत किये गये हैं। इसी प्रसंग मे भागदुघ नाम के एक राजकर्मचारी की ओर संकेत है।[4] भागदुघ यौगिक शब्द है जिसका अर्थ है भाग दुहने वाला अथवा भाग संचय करने वाला। गाय दुहने वाला जैसे गाय से शनैः-शनैः दूध दुहकर पात्र में संचित करता है, इसी प्रकार वह गाय रूप पृथिवी से दुग्ध रूप भाग संचय करता है। इस प्रकार भागदुघ राज्य की प्रजा से भाग-संचय (कर-संचय) करने वाला कर्मचारी था। भागदुघ के कर्त्तव्यों, अधिकारों, पद के विशेष लक्षणों के विषय में वैदिक साहित्य में सूचना रूप में कुछ भी नही दिया हुआ है। अतः इन विषयों में मौन रहना ही उचित है।

संगृहीता—यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के एक मंत्र में संगृहीता नाम के एक

१. ९।३३।२ ऋग्वेद। २. ५।१३१।२० अथर्ववेद।
३. निष्कग्रीवः। ३।१९।५ ऋग्वेद। ४. १३।३० यजुर्वेद।

अधिकारी की ओर संकेत किया गया है।[1] डा० काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि यह अधिकारी राज्य के कोश का स्वामी (निधिपति) था। समय व्यतीत होने पर मौर्य युग में उसका पद संनिधाता पद में परिणत हो गया और इस प्रकार संगृहीता संनिधाता हो गया। अशोक के समय में वही राजुक कहलाया।[2]

परन्तु डा० जायसवाल का यह मत सर्वमान्य नहीं है। संगृहीता को कुछ विद्वान् रणस्थल में युद्ध काल में इधर उधर बिखरी हुई युद्ध सम्बन्धी सामग्री को संग्रह करने वाला कर्मचारी मानते हैं। इस दृष्टि से उसका सम्बन्ध राजकोश से जोड़ना उचित न होगा। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि संगृहीता के वास्तविक स्वरूप के बोध हेतु प्रामाणिक सामग्री का अभाव होने के कारण उसके वास्तविक स्वरूप का स्थिर किया जाना असम्भव है।

गणक—गणक शब्द का अर्थ गणना करने वाला है। सम्भवतः गणक के पद का सम्बन्ध भी कोश से रहा होगा। यह कर्मचारी हिसाब-किताब (आय-व्यय) का ब्योरा रखनेवाला होगा। यजुर्वेद में गणक कर्मचारी की ओर संकेत करते हुए उसके प्रति सम्मान-प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गयी है। राज्य में इस कर्मचारी का विशेष महत्व था; प्रसंग से ऐसा ज्ञात होता है। गणक को ग्रामणी के समान ही सम्मान पाने का अधिकारी बतलाया गया है।[3] परन्तु दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि गणक राज्य का ज्योतिषी रहा हो और जो राज्य में प्रतिष्ठित पद माना गया हो।

गणक का वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा, इस विषय में एक मत नहीं है। गणक-पद का सम्बन्ध कोश विभाग से था अथवा उसका सम्बन्ध ज्योतिषशास्त्र से था, सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

इस प्रकार वैदिक संहिता कालीन आर्य राज्यों में राजकोश की समयानुसार व्यवस्था की गयी थी और उसके संचय के कतिपय पुष्ट साधनों का किसी अंश तक उपयोग किया गया था।

१. २६।१६ यजुर्वेद। २. पृष्ठ २०२, हिन्दू पालिटी (द्वितीय संस्करण)।
३. २०।३० यजुर्वेद।

अध्याय १०

प्रमुख संस्थाएँ

संस्थाओं का महत्त्व

प्रत्येक जाति के जीवन का बहुत कुछ परिचय उस जाति की संस्थाओं के अध्ययन करने से प्राप्त किया जा सकता है। इन संस्थाओं का आश्रय ग्रहण कर वह जाति अपने जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती है। इसलिए जाति विशेष के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं उन सिद्धान्तों के व्यावहारिक रूप का अध्ययन उस समय तक अधूरा ही रहता है जब तक कि उस जाति से सम्बन्धित संस्थाओं का क्रमबद्ध एवं विधिवत् अध्ययन न कर लिया जाय। अत: वैदिक आर्यों के राजनीतिक सिद्धान्तों एवं उनके व्यावहारिक रूप के अध्ययन हेतु उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं का क्रमबद्ध एवं विधिवत् अध्ययन करना अनिवार्य है।

वैदिक संहिताओं में वैदिक आर्यों की कतिपय संस्थाओं की ओर संकेत हैं। ये वे संस्थाएँ जान पड़ती हैं जिनका निर्माण आर्यों के जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए हुआ था। इन संस्थाओं में, अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अनुसार, जीवन सम्बन्धी समस्याओं पर गम्भीरता एवं शान्तिपूर्वक विचार किया जाता था और इस प्रकार उन पर विवेचनापूर्ण विचार हो जाने के उपरान्त उनके निराकरण हेतु निर्णय किये जाते थे, जो उनके द्वारा यथासम्भव कार्यान्वित होते थे। इस प्रकार उनकी लोकयात्रा के मार्ग में उपस्थित होने वाले विघ्नों और उपद्रवों का शमन होता रहता था और तदनुसार वे अपने उस प्रशस्त मार्ग में गमन करते हुए अपने जीवन के परम एवं चरम ध्येय की प्राप्ति करते रहते थे। वेदों में उल्लिखित इन संस्थाओं में सभा, समिति और विदथ विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। इन संस्थाओं के विषय में वैदिक साहित्य में जो सामग्री हमें उपलब्ध है उसके आधार पर आर्यों की इन संस्थाओं का परिचय इस प्रसंग में दिया जाता है।

सभा

सभा की प्राचीनता

वैदिक आर्यों की संस्थाओं में सभा का प्रमुख स्थान था। यह उनकी राष्ट्रीय

संस्था थी। इस संस्था के माध्यम से उनके राष्ट्रीय जीवन के प्रस्फुटन में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता था। अथर्ववेद में सभा को प्रजापति की दुहिता कहकर सम्बोधित किया गया है।[1] इस प्रसंग से स्पष्ट है कि सभा वैदिक आर्यों की अति पुरातन संस्था थी जिसका प्रादुर्भाव सृष्टि-रचना के साथ ही आदि काल में हुआ था। सभा की उत्पत्ति विराट् पुरुष से कही गयी है।[2] इसी प्रकार इसी वेद के एक प्रसंग में व्रात्य अथवा आदिपुरुष से सभा की उत्पत्ति बतलायी गयी है।[3]

इन प्रसंगों से यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों की यह सभा उतनी ही पुरातन है जितने पुरातन प्रजापति, विराट् पुरुष अथवा व्रात्य हैं, और इस प्रकार वैदिक सभा की उत्पत्ति भी आदि सृष्टि के साथ ही हुई थी। सभा का सर्वप्रथम निर्माण चाहे जिसने और चाहे जब किया हो, परन्तु वैदिक आर्यों की जिन संस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में है उनमें सभा ही एक ऐसी संस्था है जिसके विषय में उनकी अन्य संस्थाओं की अपेक्षा परिचयात्मक प्रामाणिक सामग्री अधिक मात्रा में उपलब्ध है।

सभा के विषय में विविध मत

सभा के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक आर्य किसी विशेष समस्या के समाधान हेतु विचार करने के लिए जब एकत्र होकर एक स्थान पर बैठते थे तो उनके इस प्रकार एकत्र होने को समिति और जिस स्थान अथवा भवन में वह एकत्र होते थे उसे सभा कहते थे। इसका तात्पर्य यह है कि समिति वैदिक आर्यों की संस्था थी, और इस संस्था के सदस्यों की बैठक जिस स्थान अथवा भवन में होती थी उस स्थान अथवा भवन को सभा की संज्ञा दी गयी थी। इस मत के प्रवर्तक हेली ब्रैण्ड (Holle brende) माने जाते हैं। दूसरी श्रेणी के विद्वानों का कहना है कि सभा ग्राम की संस्था थी और समिति केन्द्रीय संस्था थी। इस प्रकार उनके मतानुसार वैदिक आर्यों की ग्राम मात्र की संस्था सभा थी और इस दृष्टि से वैदिक राज्य में अनेक सभाएँ थीं। इस श्रेणी के विद्वानों के प्रतिनिधि जिमर (Zeimer) हैं। डा० लुडविक (Ludvig) के मतानुसार वैदिक आर्यों की एक महत्वपूर्ण अति पुरातन संस्था थी। उस संस्था के सभा और समिति दो सदन थे।

१. ११३।७ अथर्ववेद। २. ८।१०।८ अथर्ववेद। ३. २।९।१५ अथर्ववेद।

समिति जन-साधारण का सदन और सभा विशिष्ट अथवा उच्च सदन था। इस उच्च सदन में पुरोहितों, धनिकों एवं उच्चवर्गीय लोगों के प्रतिनिधि सदस्य होते थे। डा० काशी प्रसाद जायसवाल के मतानुसार समिति वैदिक आर्यों की राष्ट्रीय संस्था थी, परन्तु सभा समिति की एक स्थायी उपसमिति थी। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सभा और समिति में परस्पर क्या सम्बन्ध था, इस विषय पर निश्चयात्मक किसी प्रकार का मत व्यक्त नही किया जा सकता। डा० अल्तेकर के मतानुसार सभा का सम्बन्ध ग्राम मात्र से था। सभा ग्राम की संस्था थी। इस दृष्टि से वैदिक राज्य में लगभग उतनी ही सभाएँ होती था जितने कि उस राज्य में ग्राम होते थे। उन्होंने भी समिति को केन्द्रीय संस्था माना है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में जुआरी जुआ खेलने के लिए सभा को जाता है, ऐसा वर्णन है।[1] ऋग्वेद के इस वर्णन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में जुआरियों का अड्डा भी सभा कहलाता था। चाहे जो भी रहा हो, परन्तु यह कहना कि सभा समिति की बैठक का स्थान अथवा भवन मात्र थी, नितान्त तथ्यहीन है। यदि सभा समिति की बैठको का स्थान अथवा भवन ही होती, तो सभा के सदस्यों एवं सभासदों का होना क्योंकर सम्भव था। अथर्ववेद के स्पष्ट निर्देश के अनुसार सभा के सदस्य सभ्य एवं सभासद कहलाते थे। वे सभा में भाषण किया करते थे।[2] इसमें सन्देह नही कि सभाभवन अथवा सभा की बैठक के स्थान को भी सभा ही कहते थे। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि सभा संस्था न थी। सभा केवल स्थानीय अथवा ग्राम की संस्था मात्र भी न थी। सभा और समिति दोनो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व वेदों में स्पष्ट बतलाया गया है। अतः सभा को समिति की स्थायी उपसमिति मान लेना न्याययुक्त न होगा। सभा और समिति के अपने-अपने पृथक् कार्य थे और वे दोनों संस्थाएँ केन्द्रीय स्तर पर संचालित थी। इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय अथवा ग्राम्य स्तर पर भी सभाएँ थीं, परन्तु इससे उनके केन्द्रीय संस्था होने में किसी प्रकार का सन्देह करना उचित नहीं है। दूसरी ओर यह बात भी सत्य है कि सभा की बैठकें जिस स्थान अथवा भवन में होती थीं उसे भी सभा ही कहते थे।

सभा का संगठन

सभा के संगठन के विषय में समुचित मात्रा में प्रामाणिक सामग्री का अभाव

१. ६।३४।१० ऋग्वेद। २. ५।५५।१९ अथर्ववेद।

है। परन्तु वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र कतिपय ऐसे संकेत पाये जाते हैं जिनमें सभा के संगठन की ओर भी कुछ प्रकाश पड़ जाता है। सभा के विषय में वेदों में जो संकेत प्राप्त हैं, उनके आधार पर वैदिक सभा के संगठन की रूप-रेखा का अनुमान किया जा सकता है।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं है कि सभा के सदस्यों की नियुक्ति एवं उनकी वियुक्ति किन नियमों के आधार पर होती थी; उनकी नियुक्ति किस प्रकार और किसके द्वारा होनी चाहिए; सदस्यता की अवधि की सीमा, उसकी निर्माण विधि अथवा प्रणाली आदि पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। बैठकें कब और कहां होनी चाहिए ? सभासदों की उपस्थिति के नियम, गणपूर्ति (Quorum) आदि विषयों का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में कहीं नहीं है। इसलिए इस प्रसग मे इन विषयों का परिचय सप्रमाण दिया जाना सम्भव नहीं है। परन्तु इतना होने पर भी सभा के संगठन के विषय में जो कुछ भी अल्प एवं अस्पष्ट सामग्री संकेतों के रूप मे उपलब्ध है, उसका आश्रय ग्रहण कर वैदिक सभा के संगठन का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जायगा।

सभा की सदस्यता;

सभा का शाब्दिक अर्थ भासित अथवा प्रकाशित होना है।[1] इसलिए वैदिक सभा का तात्पर्य तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुषों की बैठक अथवा उनके एकत्र होने का स्थान है। इससे ज्ञात होता है कि सभा वैदिक आर्यों की ऐसी संस्था थी जिसमें तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुष एकत्र होते थे। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि सभा की सदस्यता का अधिकार सामान्य पुरुषों को तब तक प्राप्त न था, जब तक कि उनमें इसकी सदस्यता के अनुरूप वांछनीय गुण एवं योग्यताएँ विद्यमान न होती हों।

सभा की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। सदस्यता की प्राप्ति हेतु कतिपय विशिष्ट गुणों एवं योग्यताओं का धारण करना आवश्यक था। सभा की सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे। इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के एक मंत्र में सोम की उपासना का फल बतलाते हुए इस प्रकार की गयी है—जो पुरुष श्रद्धा-भक्ति के साथ सोम की उपासना करता है, सोम उस भक्त के लिए दूध देने वाली गाय, द्रुतगामी

१. ३।१६७।१ ऋग्वेद।

अश्व, कर्तव्यपरायण, गृह सत्कार कार्य में कुशल, पितृभक्त, विदथ की सदस्यता योग्य और सभा का सदस्य बनने योग्य पुत्र प्रदान करता है।[1] इस मंत्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि वैदिक सभा की सदस्यता प्राप्ति लोक की दृष्टि में विशेष राष्ट्रीय सम्मान मानी जाती थी। इस पद की प्राप्ति के निमित्त विशेष गुणों एवं योग्यताओं का धारण करना अनिवार्य था। ये गुण तथा योग्यताएँ सामान्य श्रेणी के पुरुषों के लिए साधारणतया सुलभ न थीं। वैदिक सभा की सदस्यता वैदिक आर्यों की दृष्टि में विशिष्ट अधिकार था, जिसकी प्राप्ति हेतु प्रत्येक पुरुष लालायित रहता था।

सभा का सदस्य किस नाम से सम्बोधित किया जाता था; इस विषय में ऋक् और यजु दोनों वेद मौन हैं। परन्तु अथर्ववेद में इस ओर स्पष्ट संकेत किये गये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक सभा के सदस्य को सभ्य अथवा सभासद की उपाधि से विभूषित किया जाता था।[2]

सभासद की योग्यता

वैदिक सभा का सदस्य बनने के लिए किन-किन योग्यताओं की आवश्यकता होती थी, वेदों में इस विषय का विशेष उल्लेख नहीं है। परन्तु इस ओर कतिपय संकेत अवश्य किये गये हैं। ऋग्वेद के एक प्रसंग में इस प्रकार संकेत किया गया है—सभा के यशस्वी सभासद की प्रशंसा उसके अन्य सह सभासद सभा में किया करते हैं। सभासद यज्ञ द्वारा प्रशंसित होता है।[3] इस संकेत से ज्ञात होता है कि सफल सभासद बनने के लिए लोकोपकारी कार्य सम्पन्न कर यश की प्राप्ति कर लेना आवश्यक था। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि ऋग्वेद इस पक्ष में जान पड़ता है कि वैदिक सभा का सदस्य बनने के लिए यशस्वी होना आवश्यक था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के अनुसार सभा की सदस्यता की प्राप्ति के लिए प्रत्याशी को यशस्वी पुरुष होना अनिवार्य था। सभा की सदस्यता प्राप्त कर लेने के पूर्व उसकी कीर्ति की छाप आर्य जनता के हृदयों में भली-भाँति अंकित हो चुकनी चाहिए।

वैदिक सभा की सदस्यता की प्राप्ति हेतु, ऋग्वेद के अनुसार, दूसरी योग्यता भद्रभाषी होना निर्धारित की गयी है।[4] इसके अनुसार वैदिक सभा की सदस्यता के योग्य वही पुरुष समझा जाता था जिसमें अन्य आवश्यक गुणों के अतिरिक्त एक विशेष

१. २०।९१।१ ऋग्वेद। २. ५।५५।१९ अथर्ववेद। २।१२।७ अथर्ववेद।
३. १०।७१।१० ऋग्वेद। ४. ६।२८।६ ऋग्वेद।

गुण भद्रभाषी होने का भी होता था। भद्रभाषी का तात्पर्य यह था कि जिस पुरुष की वाणी प्राणी मात्र के कल्याण हेतु वचन बोलने में निरन्तर रत रहती हो। यह व्यक्ति प्राणी मात्र के कल्याण हेतु अपनी वाणी का सदुपयोग करने का अभ्यासी होता था। सभा की सदस्यता के लिए ऋग्वेद के अनुसार, तीसरी योग्यता "बृहद्वाणी" के प्रयोग करने की क्षमता बतलायी गयी है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि सभा में बृहद् वाणी का उच्चारण होना चाहिए।[1] बृहद्वाणी का तात्पर्य गम्भीर, ओजपूर्ण, स्पष्ट एवं सारयुक्त वचन से है। इसलिए वैदिक सभा के सभासद का पद पाने के लिए गम्भीर, ओजपूर्ण, स्पष्ट एवं सारयुक्त वाणी के प्रयोग करने का अभ्यासी होना चाहिए। वाणी के इन गुणों से शून्य होने पर पुरुष सभा का सदस्य बनने योग्य नहीं रहता। इन योग्यताओं के अतिरिक्त, सभा की सदस्यता हेतु, ऋग्वेद में वाणी सम्बन्धी एक और योग्यता की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत के अनुसार सभा की सदस्यता प्राप्ति के निमित्त यथार्थवादी होना आवश्यक गुण निर्धारित किया गया है।[2] इस दृष्टि से वैदिक सभा का सदस्य यथार्थवादी होना चाहिए।

सभा की सदस्यता हेतु जो योग्यताएँ ऋग्वेद में संकेत रूप में लक्षित की गयी है उनकी अपेक्षा तत्सम्बन्धी जो योग्यताएँ अथर्ववेद में दी गयी है, अधिक स्पष्ट जान पड़ती है। अथर्ववेद के एक प्रसंग में सभा के सदस्य के लिए वर्चस्वी और ज्ञानवान् होने के लिए प्रार्थना की गयी है।[3] अथर्ववेद में दी गयी इस प्रार्थना के अनुसार वैदिक सभा की सदस्यता की प्राप्ति हेतु प्रत्याशी वर्चस्वी तथा ज्ञानवान् पुरुष होना चाहिए। इसी प्रसंग में यह भी प्रार्थना की गयी है कि सभा का सदस्य इन्द्र की विभूतियों का धारण करने वाला पुरुष होना चाहिए।[4] इससे स्पष्ट है कि निर्भीकता, वीरता, पराक्रमशीलता, विद्वत्ता आदि जो गुण इन्द्र में माने गये हैं, वे सभी गुण वैदिक सभा के सदस्य में भी होने चाहिए। इसी प्रसंग में अथर्ववेद में अन्यत्र प्रार्थना की गयी है कि सभा के सभासद सत्यवादी तथा न्यायपरायण होने चाहिए। उन्हें सदैव सत्य एवं न्यायपूर्ण वचन बोलने चाहिए।[5] इस आधार पर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि अथर्ववेद के इस उद्धरण के अनुसार सभा की सदस्यता के लिए प्रत्याशी को सत्यवक्ता एवं न्यायपरायण होना आवश्यक है। इसी प्रसंग में सभासद को पिता कहकर सम्बोधित

१. ६।२८।६ ऋग्वेद। २. ३।१६७।१ ऋग्वेद। ३. ३।१३।७ अथर्ववेद।
४. ३।१३।७ अथर्ववेद। ५. ५६।१।१३ अथर्ववेद।

किया गया है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक सभा के सदस्य में पिता के गुण होने चाहिए और इस आधार पर सभा का सदस्य बनने का अधिकारी वही पुरुष समझा जा सकता है जो सभा के सम्पर्क में आनेवाले (वादी, प्रतिवादी, साक्षी आदि) के प्रति पितृवत् व्यवहार करने की सामर्थ्य रखता हो। इस दृष्टि से प्राणी मात्र के प्रति सभा के सदस्य का व्यवहार पितृवत् होना चाहिए।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में सभा की सदस्यता हेतु कतिपय योग्यताएँ निर्धारित थीं। इन निर्धारित योग्यताओं के अनुसार सभा की सदस्यता का अधिकारी बनने के लिए प्रत्याशी को यशस्वी, वर्चस्वी, ज्ञानवान्, भद्रभाषी, सुवक्ता, सत्यवादी, न्यायपरायण, गम्भीर, स्पष्टवादी, सारयुक्त वचन बोलने में कुशल, प्राणिमात्र का पितृवत् हितेच्छुक तथा पालक, और इन्द्र की विभूतियों का धारण करने वाला व्यक्ति होना चाहिए। इस आधार पर सभा का सदस्य शरीर, वाणी, बुद्धि और विशुद्ध आचरण सम्बन्धी विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

सभा के सदस्यों के विशेषाधिकार

वैदिक सभा के सभासदों के विशेषाधिकारों के विषय में वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु यत्र-तत्र कतिपय ऐसे संकेत अवश्य प्राप्त हैं जिनके आधार पर उनके कुछ विशेषाधिकारों का अनुमान किया जा सकता है।

अथर्ववेद के एक प्रसंग में सभा में समान आसनों के होने की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत के आधार पर सभा भवन में सभासदों के लिए आसन ग्रहण करने के अधिकार का परिचय प्राप्त होता है। सभा में सभासद का एक विशेषाधिकार सभा भवन अथवा सभा भूमि में आसन ग्रहण करने से सम्बन्ध रखता है। सभा का सदस्य चाहे जिस वर्ण, रंग, आकृति आदि का पुरुष क्यों न हो परन्तु सभा का सदस्य होने के नाते सभा में बैठने के लिए उसे समान आसन ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था।[2] इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक सभा में सभा के सभी सदस्यों के लिए समान आसनों की व्यवस्था थी। इस आसन व्यवस्था की दृष्टि से वैदिक सभा जनतांत्रिक संस्था थी।

अथर्ववेद के अनुसार वैदिक सभा के सदस्यों का दूसरा विशेषाधिकार सभा में

१. १।१३।६ अथर्ववेद। २. ३।१३।७ अथर्ववेद।

मत-प्रकाशन सम्बन्धी था। इस विशेषाधिकार के अनुसार सभा के प्रत्येक सदस्य को सभा में अपना मत एवं अपने विचार प्रकाशन को पूर्ण स्वतंत्रता थी।[1] सभा के सभी सदस्य सभा में प्रस्तुत विषय पर अपने मत व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र थे। सभा के सदस्यों का यह विशेषाधिकार उनके लिए परम महत्वपूर्ण समझा जाता था। आधुनिक युग में भी जनतान्त्रिक सभाओं में इनके सदस्यों को यह विशेषाधिकार समान रूप में प्राप्त है।

सभापति

वैदिक संहिताओं में सभा के अध्यक्ष की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। यजुर्वेद में सभा के अध्यक्ष को सभापति की संज्ञा दी गयी है। यजुर्वेद में सभापति का उल्लेख जिस रूप में है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य जनता में सभापति पद विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता था। इस वेद में जहाँ राज्य के अन्य पदाधिकारियों के प्रति सम्मान-प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गयी है वहीं सभा के सभापति के प्रति भी उसी रूप में विशेष सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त आदेश दिया गया है।[2] यजुर्वेद में प्राप्त इस संकेत से ज्ञात होता है कि वैदिक समाज में सभा के सभापति का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित समझा जाता था। सभा की बैठकें इसी सभापति की अध्यक्षता में होती थी। सभापति की नियुक्ति किस प्रकार और किसके द्वारा होती थी, इस विषय में वैदिक साहित्य में कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं है। अतः इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार सभापति के विशेष कर्तव्य एवं अधिकार क्या थे, इस विषय की सामग्री के अभाव के कारण कुछ कहना उचित नहीं होगा।

सभा के कार्य

वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक सभा का प्रधान कार्य धर्म-निर्णय था। मनुष्य किस विशेष कार्य अथवा आचरण करने से किस प्रकार तथा कितनी मात्रा में कर्तव्य-भ्रष्ट, धर्मच्युत हुआ है और तदनुसार उसे किस प्रकार और किस मात्रा में दण्ड मिलना चाहिए, इस विषय का निर्णय करना सभा का प्रधान कार्य था। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता

१. २।१३।७ अथर्ववेद। २. २४।१६ यजुर्वेद।

है कि सभा का प्रधान कार्य विवादग्रस्त विषयों पर विचार करना एवं तदनुसार निर्णय देना था।

यजुर्वेद मे सभा का परिचय देते हुए बतलाया गया है कि धर्म के लिए (धर्माय) सभा मे गमन करने वाले (सभाचरम्) को जानना चाहिए।[1] इस मंत्र से ज्ञात होता है कि मनुष्य धर्मनिर्णय अर्थात् न्याय की प्राप्ति हेतु सभा में गमन करता था। यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में भी इसी तथ्य की पुष्टि की ओर संकेत किया गया है। यह संकेत इस प्रकार है—'यज्ञ ! तू आक्रमण के लिए अर्थात् आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिए (आस्कन्दाय) सभा में स्थित (सभा स्थाणुम्) को प्रकट कर।[2] इस संकेत से ज्ञात होता है कि आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिए सभा सुरक्षित स्थान समझी जाती थी। ये आक्रमण किस प्रकार के होते होंगे, स्पष्ट नहीं है। सम्भवत: सभा में उस व्यक्ति को शरण मिलती थी जिसके जीवन, सम्पत्ति, स्वतंत्रता अथवा सम्मान तथा प्रतिष्ठा आदि पर आक्रमण होता होगा, अर्थात् दूसरे से त्रस्त अथवा पीड़ित व्यक्ति की रक्षा सभा की शरण मे आने से होती थी। किसी व्यक्ति के अधिकार पर आघात हुआ है, ऐसी परिस्थिति के उपस्थित होने पर सभा उस व्यक्ति के उक्त अधिकार की रक्षा करती थी और उस त्रस्त एवं पीड़ित व्यक्ति के लिए उसके उस अपहृत अधिकार को पुन: दिलाने का निर्णय देती थी।

यजुर्वेद के इस प्रसंग का तात्पर्य यह है कि सभा के सदस्य दूसरों के अधिकार पर आक्रमण करने वालों के विरुद्ध निर्णय देते थे। इस प्रकार सभा एक प्रकार का न्यायालय थी। इस तथ्य की पुष्टि यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र द्वारा भी होती है। इस मंत्र में प्रार्थना की गयी है कि सभा में हम जो पाप करें उस पाप का मोचन करने वाला तू है, अर्थात् प्रभु अथवा यज्ञ उस पाप का मोचन करे।[3] इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में अथर्ववेद में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—जो पाप सभा में हुए हैं उन्हें दूर कर।[4] इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि सभा में भी पाप कर्म किये जा सकते थे। प्रश्न यह होता है, यह कौन-सा पाप हो सकता है ? और उस पाप का सभा में होना क्योंकर सम्भव था ? सम्भवत: यह वही पाप होगा जिसकी ओर वैदिक युग के बहुत पश्चात् मानवधर्मशास्त्र, महाभारत आदि ग्रन्थों में सभा के प्रसंगों में संकेत किया गया

१. ६।३० यजुर्वेद। २. १८।३० यजुर्वेद। ३. १७।२० यजुर्वेद।
४. ६।३१।५ अथर्ववेद।

है। यह इस प्रकार है—यदि सभा के समक्ष निर्णय हेतु प्रस्तुत किसी विषय में अनृत अथवा अधर्मपूर्ण निर्णय दिया गया है और इस प्रकार जो पापाचरण हुआ है उस पाप का एक चौथाई अंश मात्र पापकर्ता (दूसरे को पीड़ा देने वाले अथवा बलात्कार करने वाले अभियुक्त) को होता है। उस पाप के शेष भाग में एक तिहाई भाग सभाध्यक्ष को, एक तिहाई अंश अनृत साक्ष्य देने वाले व्यक्ति को और अवशेष एक तिहाई अंश सभासदों को होता है।[1] परन्तु जिस सभा में अनृतवादी अथवा पापाचारी के अनुसार ही न्यायपूर्ण निर्णय दिया जाता है उस सभा में सभाध्यक्ष और सभासद दोनों निष्पाप रहते हैं और उस पापाचारी अथवा अनृतवादी (वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी) को सम्पूर्ण पाप होता है। जिस सभा में न्याय नहीं होता उस सभा में पाप का आधा अंश सभाध्यक्ष को, अवशेष आधे का आधा उस सभा के उन सभासदों को लगता है, जो सभा में बैठ कर निन्दित पुरुष की निन्दा नहीं करते और उस पाप का चतुर्थांश मात्र पापकर्त्ता को लगता है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से भी यही सिद्ध होता है कि वैदिक संहिताओं में जिस सभा का उल्लेख है उसका प्रधान कार्य धर्म-निर्णय अथवा न्याय-वितरण करना था। सभा के इस प्रधान कार्य के अतिरिक्त उसके अन्य कार्य भी रहे होंगे, जिनकी ओर वैदिक साहित्य में किसी प्रकार का संकेत नहीं मिलता है। वैदिक आर्यों के दैनिक जीवन में समय-समय पर उपस्थित होने वाली महत्वपूर्ण समस्याओं की गुत्थियों का सुलझाना भी सभा का कार्य रहा होगा। समाज में विवादग्रस्त कतिपय विशेष समस्याओं पर विचार करना और तदनुसार निर्णय देना सभा के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत अवश्य रहा होगा।

सभा की कार्य-प्रणाली

सभा के कार्य संचालन हेतु किस प्रकार की प्रणाली का आश्रय लिया जाता था, इस विषय में वैदिक साहित्य में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। इसलिए वैदिक सभा की कार्यप्रणाली के विषय में किसी निश्चित मत का निर्धारण किया जाना असम्भव जान पड़ता है। इतना अवश्य है कि अथर्ववेद में एक-दो अप्रत्यक्ष संकेत सभा की कार्य-

१. १८।८ मानवधर्म शास्त्र। ७९।६८ सभापर्व, महाभारत।
२. १९।८ मानवधर्मशास्त्र। ८०।६८ सभापर्व, महाभारत।

प्रणाली की ओर किये गये हैं। इन संकेतों के आधार पर सभा की कार्य-प्रणाली का अनुमान किया जा सकता है।

अथर्ववेद में सभा का जो वर्णन दिया हुआ है, उससे ऐसा अनुमान होता है कि वादी अपने वाद को सभा के समक्ष प्रस्तुत कर प्रार्थना करता था कि सभा के सदस्य पिता के समान पुत्रवत् उसकी रक्षा करें।[1] इससे ऐसा ज्ञात होता है कि वादी अपने वाद को प्रार्थना के रूप में निर्णय हेतु सभा के समक्ष प्रस्तुत करता था। इसी प्रसंग में यह प्रार्थना भी की गयी है कि सभा के सदस्य अपना मत सभा में प्रस्तुत प्रस्ताव अथवा वाद पर विचार करने में लगायें। यदि उनका मन इधर-उधर भटक जाता है तो अपने इस प्रकार भटके हुए मन को खींचकर अपने समक्ष प्रस्तुत विषय अथवा प्रस्ताव में लगा दें।[2] इस प्रार्थना से ज्ञात होता है कि सभा के सदस्य सभा में अपने समक्ष प्रस्तुत वाद अथवा विषय पर मन लगा कर विचार करते थे और तदनुसार अपने-अपने मत पृथक्-पृथक् व्यक्त करते थे। इस प्रकार सभा के समक्ष प्रस्तुत विषय की पूर्ण विवेचना सभासदों द्वारा की जाती थी। इसी प्रसंग में सभा के सदस्यों के लिए सर्वसम्मति की प्राप्ति हेतु कामना अथवा प्रार्थना की गयी है।[3] इस प्रार्थना से स्पष्ट है कि सभा में इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि उसके द्वारा दिये गये निर्णय सर्वसम्मति से हों। सर्वसम्मति द्वारा प्राप्त निर्णय की प्रशंसा की जाती थी। परन्तु ऐसा सदैव सम्भव न होने के कारण कभी-कभी किसी विषय में सभा के सदस्यों के भिन्न मत होने के कारण निर्णय देने में बहुमत का आश्रय लिया जाता था। अथर्ववेद में इस ओर भी संकेत हैं। अथर्ववेद के एक प्रसंग में बहुमत के आधार पर निर्णय प्राप्त करने के निमित्त प्रार्थना की गयी है।[4]

इस प्रकार सभा के समक्ष उपस्थित वादी अपना पक्ष प्रार्थना के रूप में प्रस्तुत करता था। इसके अतिरिक्त अन्य आवश्यक विषय भी सभा में निर्णय हेतु प्रस्तुत किये जाते थे। प्रस्तुत किये गये विषय अथवा वाद पर सभा के सदस्य गम्भीरता पूर्ण विचार कर अपने मत पृथक्-पृथक् व्यक्त करते थे और उनके इन मतों के आधार पर सभा प्रस्तुत विषय अथवा वाद पर निर्णय देती थी, जो मान्य होता था। निर्णय सर्व-सम्मति अथवा बहुमत द्वारा दिये जाते थे। सर्वसम्मति के आधार पर दिये गये निर्णय

१. १।१२।७ अथर्ववेद। २. ४।१२।७ अथर्ववेद।
३. १।१३।७ अथर्ववेद। ४. ३।१३।७ अथर्ववेद।

विशेष प्रशंसनीय माने जाते थे। यह भी अनुमान किया जाता है कि प्रतिवादी, साक्षी आदि को भी सम्बन्धित विषय पर निर्णय देने के लिए सभा में बुलाया जाता होगा और सम्बन्धित घटना अथवा विषय मे तथ्य तक पहुँचने के लिए उनको भी विधिवत् सुनने का समुचित अवसर दिया जाता होगा।

सभा में प्रस्तुत विषय पर उस के प्रत्येक सदस्य को अपना मत स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार था। जिस समय सभा का कोई सदस्य प्रस्तुत विषय पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए सभा में बोलता था, उस अवधि में सभा के दूसरे सदस्यों को बोलने का अधिकार न था। वक्ता का भाषण समाप्त हो जाने पर अथवा उसके बोलने के निर्धारित समय के समाप्त हो जाने पर सभा के अन्य सदस्यों को बोलने का अधिकार था। इस तथ्य की पुष्टि अथर्ववेद में इन शब्दों मे की गयी है। सभा का सदस्य कहता है—जब मैं सभा मे भाषण करूँ, तब तू भाषण मत कर, मेरे भाषण की समाप्ति के उपरान्त तू भाषण कर।[1]

सभा की कार्यवाही सभा के सभापति के नियंत्रण मे सम्पन्न होती थी। इस प्रकार सभा का सचालन निर्धारित निश्चित नियमों के अनुसार सभापति के अनुशासन में होता था।

सभा की न्यायसमिति

अथर्ववेद के एक मंत्र में सभा के सदस्यों को सभ्य और सभासद नाम से सम्बोधित किया गया है।[2] इस संकेत से ऐसा अनुमान होता है कि सभा के सभी सदस्य सामान्यतया सभासद कहलाते थे। परन्तु इन में कुछ सभासद ऐसे भी होते थे, जिनमें सामान्य सभासदों की अपेक्षा कतिपय विशेष योग्यता एवं गुण होते थे। उनकी इस विशेषता के कारण उन्हें कुछ विशेष कार्य सौंप दिये जाते थे, जिनका विधिवत् सम्पादन करना उनका कर्त्तव्य समझा जाता था। उनका यह विशेष कार्य न्याय सम्बन्धी था। इस श्रेणी के सभासदों को सभ्य की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

इस प्रकार सभा की एक उपसमिति होती थी, जो वैदिक राज्य में सर्व श्रेष्ठ न्यायालय का रूप धारण किये हुए थी। इस उपसमिति का कार्य न्याय की स्थापना था। सभा की इस उपसमिति के सभी सदस्य सभ्य कहलाते थे। प्राचीन भारत में

१. ४।३९।७ अथर्ववेद। २. ५।५५।१९ अथर्ववेद।

सभ्य न्यायालय रहे हैं। न्याय क्षेत्र में वे सक्रिय योगदान करते थे। जनता में उनका विशेष महत्त्व एवं आदर था। ऐसा ज्ञात होता है कि इन सभ्य न्यायालयों का विकास वैदिक सभा की इसी उपसमिति से हुआ है। शुक्रनीति के रचना-काल तक सभ्य न्यायालय अपने चरम विकास को प्राप्त हो चुके थे,[1] लोक में उनकी विशेष प्रतिष्ठा एवं महत्त्व था। मानवधर्मशास्त्र के रचना-काल में भी सभ्य न्यायालय महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानित न्यायिक संस्थाएँ समझी जाती थीं।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक सभा में एक न्यायसमिति होती थी जिसका निर्माण सभा अपने विशेष योग्य सभासदों से करती थी। ये सभ्य वैदिक सभा की इस उपसमिति में बैठकर न्यायकार्य का सम्पादन करते थे।

नारी सदस्य

वैदिक संहिताओं में एक भी ऐसा संकेत उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि वैदिक सभा की सदस्यता नारियों को भी प्राप्त थी। इसलिए इस विषय में मौन रहना ही उचित है। उत्तर वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे प्रसंग अवश्य हैं, जिनमें कुछ ऐसी नारियों का उल्लेख है, जो ब्रह्मविद्या की जिज्ञासु थी और वे विद्वत्परिषदों के तत्सम्बन्धी वाद-विवादों में भाग लेती हुई वर्णित हैं। गार्गी ने ऐसे ही एक सम्मेलन में सभानेत्री का आसन ग्रहण किया था।[3] परन्तु वैदिक सभा के संदर्भ में ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है जिसमें नारी सभासदों का कहीं भी उल्लेख किया गया हो। इसलिए यह विषय अभी शोध हेतु समस्या ही बना हुआ है। इतना अवश्य है कि वैदिक संहिताओं में कतिपय ऐसी नारियों का उल्लेख है जो ब्रह्मवादिनी थीं और उनके नाम से कुछ वैदिक ऋचाएँ भी उपलब्ध हैं।[4]

इस प्रकार सभा वैदिक आर्यों की महत्त्वपूर्ण संस्था थी जो वैदिक संहिताओं के युग में महत्त्वपूर्ण कार्य सक्रिय रूप में करती हुई उनके जीवन के विकास में समुचित योग देती रहती थी।

१. ५५४।४ शुक्रनीति।   २. १०।८ मानवधर्मशास्त्र।
३. ३।६।३ बृहदारण्यकोपनिषद्।
४. विश्ववारा, घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि।

समिति

समिति की प्राचीनता

वेद कालीन संस्थाओं का उल्लेख जिस रूप में वैदिक साहित्य में प्राप्त है उससे यह ज्ञात होता है कि सभा और समिति वैदिक आर्यों की दो मुख्य संस्थाएँ थीं। उनकी इन दोनों संस्थाओं ने उनके जीवन के विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। उनके जीवन में उनके लिए सभा जितनी महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी थी उससे किसी अंश मे भी न्यून महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी समिति न थी। वेदों में समिति को पुरातन संस्था बतलाया गया है। अथर्ववेद मे समिति को सभा की यमज भगिनी और प्रजापति की दुहिता बतला कर सम्बोधित किया गया है।[1] वैदिक दर्शन के अनुसार एक ऐसा समय भी था जब सम्पूर्ण जगत अव्यक्त अवस्था में था। कुछ समय के उपरान्त अव्यक्त जगत व्यक्त अवस्था में प्रकट हुआ। अव्यक्त जगत के व्यक्त होने के समय सर्व प्रथम आदि पुरुष अथवा विराट् पुरुष प्रकट हुआ। उस पुरुष के अगों-प्रत्यंगों से चल और अचल सभी प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति हुई।[2] सृष्टि के इसी रचना-काल में कतिपय वैदिक संस्थाओं का भी जन्म हुआ। इन आदि कालीन वैदिक संस्थाओं में समिति भी थी। अथर्ववेद में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि विराट् पुरुष से समिति का जन्म हुआ था।[3] अव्यक्त जगत किस प्रकार व्यक्त अवस्था में आया इस विषय मे एक और प्रसग उसमे है। इस प्रसंग मे व्रात्य (आदि पुरुष) द्वारा अव्यक्त जगत का व्यक्त होना वर्णित है। इस प्रसंग में यह भी वर्णन है कि व्रात्य ने गमन किया, उसके पीछे-पीछे सभा, समिति और सेना व्यक्त होकर गमन करने लगीं।[4]

अथर्ववेद के उपर्युक्त प्रसंग समिति का पुरातन संस्था होना सिद्ध करते है। इन प्रसगो के अनुसार समिति उतनी ही पुरातन है जितने कि प्रजापति, विराट् पुरुष और व्रात्य पुरातन है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेदीय ऋषियों ने भी समिति को अपने समय की महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय उपयोगी संस्था के रूप में वर्णन किया है।[5] उनके समय में समिति का पूर्ण विकास हो चुका था और वह जनकल्याण-कार्य सम्पादन में सक्रिय

१. ८।१४।७ अथर्ववेद। २. देखिए ऋग्वेद का पुरुषसूक्त।
३. १०।१०।८ अथर्ववेद। ४. २।९।१५ अथर्ववेद।
५. ६।१७।१० और ६।९२।९ ऋग्वेद।

थी। इससे भी यह स्पष्ट है कि वैदिक समिति का जन्म ऋग्वेदीय ऋषियों के बहुत पूर्व हो चुका था। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि वैदिक समिति आर्यों की पुरातन संस्था थी।

समिति की उपयोगिता

अथर्ववेद के एक प्रसंग में अप्रत्यक्ष रूप में समिति की उपयोगिता की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत में बतलाया गया है कि जिस राष्ट्र में ब्रह्महत्या होती है वहाँ मित्र और वरुण जलवृष्टि नहीं करते, समिति वहाँ कार्य नहीं करती और उस राष्ट्र के मित्र उसके वश में नहीं रहते।[1] अथर्ववेद के इस संकेत से यह स्पष्ट है कि वैदिक राज्य मे समिति का अभाव अथवा उसका निष्क्रिय हो जाना लोक में महान् अनर्थ समझा जाता था। समिति-हीन राज्य मृतवत् समझा जाता था। वैदिक आर्यों द्वारा सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं को परस्पर मिल-जुलकर एवं विचारों के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सुलझाने और सम्पूर्ण राज्य की जनता के कल्याण का चिन्तन कर तदनुसार साधनों के जुटाने में समिति का महान् सहयोग रहता था। इस दृष्टि से समिति वैदिक आर्यों की उपयोगी संस्था थी। उसके बिना उनके राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् विकास असंभव था।

समिति के परिचय में असुविधाएँ

वैदिक समिति का वास्तविक स्वरूप क्या था, इसके बोध हेतु प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। वेदों में कही भी ऐसी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर समिति के वास्तविक स्वरूप का परिचय कराया जा सके। वैदिक साहित्य में समिति के विषय में जो कुछ भी सामग्री आज हमें प्राप्त है वह सब की सब संकेत रूप में है। वह सांकेतिक सामग्री भी अस्पष्ट है। वेदों में प्राप्त इस अस्पष्ट एवं सांकेतिक अति अल्प सामग्री के अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य साधन भी नहीं है जो समिति के वास्तविक स्वरूप के परिचय देने में सहायक हो सके। इसलिए वैदिक समिति के वास्तविक स्वरूप का बोध होना अति कठिन है। इतना होने पर भी समिति के विषय में जो कुछ भी अल्प एवं सांकेतिक तथा अस्पष्ट सामग्री वैदिक साहित्य में उपलब्ध है उसी का आश्रय ग्रहण कर समिति के स्वरूप की यथासम्भव रूपरेखा खींचने का प्रयास किया जायगा।

१. १५।१९।५ अथर्ववेद।

समिति का संगठन

समिति शब्द 'सम्' और 'इति' के संयोग से बना है, जिसका अर्थ एकत्र होना है। इस दृष्टि से समिति वैदिक आर्यों की सार्वजनिक संस्था थी जिसमें राज्य के लगभग सभी वयस्क निवासी एकत्र होकर सार्वजनिक जीवन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान मिल-जुलकर कर लेने के अधिकारी थे। इस प्रकार सभा और समिति के संगठन में सब से महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि सभा की सदस्यता का अधिकार केवल उन पुरुषों को प्राप्त था जो राज्य में विशिष्ट पुरुष समझे जाते थे। परन्तु समिति की सदस्यता के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था। राष्ट्र के लगभग सभी निवासी समिति में बैठ सकते थे और उसकी कार्यवाही में भाग लेने के अधिकारी थे। इसलिए संगठन की दृष्टि से सभा की अपेक्षा समिति कहीं अधिक उदार थी।

समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को सम्भवतः समितिपति कहते थे। इसी समितिपति की अध्यक्षता में समिति की बैठकें होती थीं और आवश्यकतानुसार कार्य सम्पन्न होता था। अथर्ववेद के एक मंत्र में समिति के सदस्य को सामित्य कहकर सम्बोधित किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि वैदिक समिति का सदस्य सामित्य कहलाता था। समिति द्वारा निर्धारित की गयी नीति को वैदिक भाषा में मंत्र की संज्ञा दी गयी है।[2]

समिति की कार्यप्रणाली

ऋग्वेद में समिति का उल्लेख है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में प्रार्थना की गयी है कि उनकी समिति में एकमत हो; समिति के सदस्यों के चित्त, उनके मन और उनके द्वारा निर्णीत मंत्र एवं मंत्र-निर्णय की उनकी प्रक्रिया में एकमत रहे।[3] इस प्रार्थना से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों के सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ उनके द्वारा समाधान हेतु समिति के समक्ष प्रस्तुत की जाती थीं। समिति में इन समस्याओं पर गम्भीर विवेचना की जाती थी और उनके समाधान हेतु वाद-विवाद भी होते थे। इन वाद-विवादों एवं गहन विवेचनों के उपरान्त समिति द्वारा उन पर अन्तिम निर्णय दिया जाता था जो समयानुसार यथासम्भव कार्यान्वित होता था। वाद-विवाद कभी-

१. ११।१०।८ अथर्ववेद। २. ११।१०।८ अथर्ववेद।
३. ३।१९१।१० ऋग्वेद।

कभी उग्र रूप भी धारण कर लेते थे और ऐसी परिस्थितियों में मंत्र-निर्णय में कठिनाई उपस्थित होती थी। इसीलिए ऋग्वेद की इस ऋचा में प्रार्थना की गयी है कि समिति मे, मंत्र-निर्णय में, एकमत हो। ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर समिति का सम्बन्ध चित्त और व्रत से जोड़ा गया है।[1] यह प्रार्थना सम्भवतः इसी आशय से की गयी जान पड़ती है कि समिति में उपस्थित सामित्य गण एक संकल्प करें और एक चित्त होकर प्रस्तुत संकल्प अथवा विचार पर अपने-अपने मत व्यक्त करते हुए अन्त में एक ही निर्णय दें और इस प्रकार प्राप्त निर्णय पर दृढ़ रहें।

यजुर्वेद में समिति का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। यजुर्वेद में समिति की ओर इस प्रकार उपेक्षा क्यों की गयी, इसका कारण समझ में नहीं आता। इतना होने पर भी कुछ ऐसे प्रसंग अवश्य पाये जाते हैं जिनमें वैदिक आर्यों के सार्वजनिक जीवन की सफलता के लिए कतिपय विशेष गुणों एवं योग्यताओं की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। इस विषय के एक प्रसंग में अग्निदेव की प्रार्थना इस प्रकार की गयी है— हे अग्नि देव! हमारे मन, हमारे व्रत (कार्य) और हमारे चित्त समान हों।[2] इस प्रार्थना में भी लगभग वही भाव व्यक्त किये गये हैं जो कि ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्रों मे व्यक्त हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक युग में सार्वजनिक समस्याओं के समाधान हेतु समिति के सदस्यों के मन, उनके व्रत और उनके चित्त में एकता तथा समता रहने की आवश्यकता बतलायी गयी है। इस प्रकार समिति के सदस्यों में सुमति रहे, इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

अथर्ववेद में भी इन्हीं भावों की पुनरावृत्ति की गयी है। अथर्ववेद के एक प्रसंग मे ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र की पुनरावृत्ति करते हुए प्रार्थना की गयी है कि उनकी समिति के सदस्यों के चित्त, उनके व्रत और उनके द्वारा निर्णीत मंत्र में सर्वसम्मति रहे अर्थात् समिति के सदस्यों में निरन्तर सुमति रहे।[3] वैदिक संहिताओं के इन प्रसंगों से यह सिद्ध होता है कि समिति में वैदिक आर्यों की जीवन सम्बन्धी सामूहिक एवं सार्वजनिक समस्याओं पर गम्भीर विचार किया जाता था, उनकी सूक्ष्म विवेचना की जाती थी। समिति के सदस्य प्रस्तुत प्रस्ताव (संकल्प) पर पृथक्-पृथक् अपना मत व्यक्त करते थे। इसमें बहुधा वाद-विवाद उग्र रूप भी धारण कर लिया करते थे। प्रस्ताव, इस प्रकार विवेचना हो जाने के उपरान्त, बहुमत अथवा सर्वसम्मति से पारित किया जाता

१. ४।१६६।१० ऋग्वेद। २. ५८।१२ यजुर्वेद। ३. २।६४।६ अथर्ववेद।

था। प्रस्ताव का सर्वसम्मति द्वारा पारित किया जाना प्रशंसनीय समझा जाता था। समिति द्वारा पारित प्रस्ताव यथा सामर्थ्य कार्यान्वित किया जाता था। राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य नीति का वरण किया जाना इसी संस्था के कार्यक्षेत्र के अधीन था। प्रस्ताव को संकल्प और नीति को मंत्र के नाम से वैदिक भाषा में सम्बोधित किया गया है।[1]

समिति की बैठकों को कब और कितनी पूर्व सूचना दी जानी चाहिए, उसकी बैठकों में गणपूर्ति हेतु सदस्यों की कितनी संख्या निर्धारित रही होगी, मत गणना की क्या विधि थी आदि विषयों के बोध हेतु तथ्यपूर्ण सामग्री का सर्वथा अभाव होने के कारण इन विषयों के सम्बन्ध में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। ये विषय अभी समस्याएँ ही बने हुए हैं।

समिति के कार्य

वैदिक समिति किन कार्यों का सम्पादन करने की अधिकारिणी थी, वैदिक साहित्य में इस विषय का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु कुछ संकेत अवश्य प्राप्त हैं जिनका आश्रय ग्रहण कर समिति द्वारा किये जाने वाले कार्यों का आंशिक रूप में परिचय मिलने में सहायता मिल जाती है। यद्यपि ये संकेत अप्रत्यक्ष रूप में ही इस ओर कुछ प्रकाश डालते हैं तथापि इस क्षेत्र में उनकी उपयोगिता का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। वैदिक संहिताओं में इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि वैदिक आर्य एकत्र होकर अपने राजा का वरण करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य अपनी समिति के रूप में एकत्र होकर यह कार्य सम्पन्न करते थे। इस कथन की पुष्टि ऋक् और अथर्व दोनों वेदों में इन शब्दों में की गयी है—हे भावी राजन्! आर्य जनता (विशः) तेरी कामना करती है। वह अचल है। तू भी सर्व प्रकार से दृढ़ होकर राजपद पर प्रतिष्ठित हो जा! तू राष्ट्र से भ्रष्ट न हो।[2] अथर्ववेद में स्पष्ट संकेत किया गया है कि आर्य जनता (विशः) राजा का वरण करती है।[3] वैदिक संहिताओं के इन प्रकरणों से स्पष्ट है कि समिति का एक प्रधान कार्य राष्ट्रवासियों के लिए राजा का वरण करना था।

१. ३।१९१।१० ऋग्वेद। २. ११७३।१० ऋग्वेद।
३. १।८७।६ अथर्ववेद। २।४।३ अथर्ववेद।

वेदों में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जिनमें निष्कासित राजा की पुनःस्थापना हेतु व्यवस्था दी गयी है। ऋग्वेद के एक मंत्र में इस ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।[1] अथर्ववेद में कुछ ऐसे मंत्र हैं जिनमें राजपद पर निष्कासित राजा की पुनःस्थापना हेतु प्रार्थना की गयी है।[2] इन प्रकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समिति निष्कासित राजा की पुनःस्थापना करने की अधिकारिणी होती थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि समिति वैदिक आर्यों की प्रभुता-सम्पन्न (Sovereign) संस्था थी।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के अतिरिक्त समिति के कतिपय अन्य कार्य भी थे। राज्य की नीति का निर्धारण करना समिति का प्रधान कर्त्तव्य था। राष्ट्रवासियों के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओं पर गम्भीर एवं विवेचनात्मक प्रणाली द्वारा विचार करना और उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना, जैसा कि उचित होता, समिति के अधिकार क्षेत्र की परिधि में था।

इस प्रकार राष्ट्रवासियों के लिए नूतन राजा का वरण करना, अनुपयुक्त एवं अयोग्य राजा को राजपद से भ्रष्ट कर उसे निष्कासित करना, निष्कासित राजा को राजपद हेतु आमन्त्रित कर राजपद पर उसकी पुनः स्थापना करना, राज्य की नीति का निर्धारण करना, राष्ट्रवासियों के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गयी योजनाओं पर विवेचनात्मक प्रणाली से विचार कर उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना आदि कार्य समिति के क्षेत्र के अन्तर्गत समझे जाते थे।

इस प्रकार, उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर, यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में समिति नाम की संस्था वैदिक आर्यों की महत्त्वपूर्ण संस्था थी। वैदिक आर्यों के सार्वजनिक जीवन में इसका विशेष महत्त्व था। इस संस्था ने उनके सार्वजनिक जीवन के विकास में उल्लेखनीय सहयोग दिया था।

विदथ

विदथ की प्राचीनता

वैदिक आर्यों की सार्वजनिक संस्थाओं में विदथ भी महत्त्वपूर्ण संस्था थी। विदथ एक विशेष प्रकार की संस्था थी। वह सभा और समिति से भिन्न थी। उसका स्वरूप

१. ५।७१।७ अथर्ववेद।   २. ३, ४, ५।३।३ अथर्ववेद।

विद्या एवं ज्ञान सम्बन्धी था। ऋग्वेद में विदथ का उल्लेख अनेक प्रसंगों में है। इससे विदथ की प्राचीनता के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के इन प्रसंगों से ऐसा जान पड़ता है विदथ भी सभा और समिति के समान ही वैदिक आर्यों की एक पुरातन विशेष सार्वजनिक संस्था थी जो विद्या, ज्ञान और यज्ञों से विशेष सम्बन्ध रखती थी।

विदथ के विषय में अनेक मत

विदथ के विषय में विद्वानों में विविध मत हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के साठवें सूक्त के प्रथम मंत्र के आधार पर मि० जिमर विदथ के स्वरूप पर अपना मत व्यक्त करते हुए इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि विदथ वैदिक समिति की एक उपसमिति थी।[1] विदथ का अपना स्वतंत्र अस्तित्व न था। मि० राथ के मतानुसार विदथ मूल संस्था थी। उसी से समिति, सभा और सेना की उत्पत्ति हुई थी।[2] मि० ह्विटनी ने अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के तेरहवें सूक्त के चौथे मंत्र के आधार पर विदथ को एक प्रकार की परिषद बतलाया है।[3] डा० आर० एस० शर्मा के मतानुसार विदथ का विशेष सम्बन्ध सेना से था और तदनुसार विदथ सैनिक कार्यों का सम्पादन करने वाली वैदिक संस्था थी।[4]

विदथ के स्वरूप के विषय में इन विद्वानों का चाहे जो मत क्यों न रहा हो परन्तु वैदिक संहिताओं में उसका उल्लेख जिन प्रसंगों में हुआ है उनका गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मत सर्वांश सत्य नहीं माने जा सकते। वेदों में विदथ के विषय में जो वर्णन यत्र-तत्र प्राप्त हैं उनसे ज्ञात होता है कि विदथ स्वतंत्र संस्था थी। वह समिति, सभा आदि की पुत्री अथवा जननी न थी। विदथ शब्द की उपलब्धि विद् धातु से होती है, जिसका अर्थ सत्य की खोज करना है। इसलिए विदथ वह संस्था थी जिसमें सत्य की खोज की जाती थी। इस दृष्टि से विदथ को विद्वत्परिषद मानना न्याययुक्त होगा। इस दृष्टि से डा० अल्तेकर ने विदथ के स्वरूप के विषय में

१. Vedic Index, page 199, Macdonell and Keith.
२. ५।३८।३; ४।१।२; ६।२६।३ ऋग्वेद।
३. अथर्ववेद, ह्विटनी संस्करण।
४. जे० बी० आर० एस० १९५२, पृष्ठ ४२९।

जो अपना मत व्यक्त किया है वह तथ्ययुक्त है। उन्होंने भी विदथ को विद्वत्परिषद माना है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में विदथ को क्रान्तदर्शियों की संस्था बतलाया गया है।[1] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में बतलाया गया है कि विदथ में विद्वान् ब्राह्मण एकत्र होते थे।[2] ऋग्वेद के एक प्रसंग में अग्नि की ज्वाला विदथ की पताका बतलायी गयी है।[3] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विदथ विद्वत्परिषद थी जिसमें प्राणी मात्र के कल्याण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों पर विद्वत्तापूर्ण चिन्तन किया जाता था और तद-नुसार निर्णय दिया जाता था। इसमें अनर्गल विषयों पर विचार करने का अवसर नहीं मिलता था। वैदिक यज्ञों से इसका विशेष सम्बन्ध रहता था।

विदथ की सदस्यता

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि विदथ एक विशिष्ट वैदिक संस्था थी जिसमें विद्वान् ब्राह्मण सदस्य होते थे और वह ब्रह्मज्ञान की खोज एवं उसकी प्राप्ति का प्रमुख साधन समझी जाती थी। इसलिए विदथ की सदस्यता का अधिकार विद्वान् ब्राह्मणों को ही विशेष रूप से प्राप्त था। सर्व सामान्य नर-नारियों को इसकी सदस्यता प्राप्त न थी। विदथ के सार्वजनिक उत्सवों में सार्वजनिक जनता भी उपस्थित हो सकती थी और उसमें जो धार्मिक कृत्य किये जाते थे अथवा महत्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद होते थे उनसे लाभ उठा सकती थी। परन्तु सदस्य की श्रेणी में वे परिगणित नहीं किये जा सकते थे। विदथ की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। विदथ की सदस्यता के लिए विशेष साधना की आवश्यकता होती थी जो वैदिक समाज में, विशेष सम्मान एवं प्रतिष्ठा पाना समझी जाती थी। इसीलिए विदथ की सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे। ऋग्वेद के एक मंत्र में इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। इस मंत्र में बतलाया गया है कि विदथ की सदस्यता सोम की उपासना का प्रसाद है। यह पद उसे सोम की कृपा से प्राप्त हो सकता है।[4] इस संकेत से यह ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता की प्राप्ति हेतु सोम की विभूतियों (भग) का धारण करना आवश्यक था। इसलिए विदथ की सदस्यता की प्राप्ति हेतु विशेष गुणों एवं योग्यताओं का धारण करना अनिवार्य था।

१. २।१।३ ऋग्वेद। २. ३।९३।७ ऋग्वेद। ३. १।६०।१ ऋग्वेद।
४. २०।९१।१ ऋग्वेद।

विदथ के सदस्य की योग्यता

विदथ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए कतिपय विशेष योग्यताओं की आवश्यकता बतलायी गयी है। वेदों में इन योग्यताओं के विषय में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मंत्र में विदथ का सम्बन्ध धीमान् विप्रों से बतलाया गया है।[1] इस प्रकार विदथ का सदस्य बनने के लिए सर्व प्रथम योग्यता बुद्धि एवं विद्या का धारण करना बतलाया गया है।[2] ऋग्वेद के एक मंत्र मे अश्विनीकुमारों को यज्ञ में बुलाने के लिए प्रार्थना की गयी है कि वे यज्ञ में उसी प्रकार पधारने की कृपा करें जिस प्रकार देवस्तुति में कुशल दो ब्राह्मण विदथ में पधारते हैं।[3] इस संकेत से भी यह स्पष्ट होता है कि विदथ की सदस्यता हेतु विद्वत्ता एवं ब्रह्मबल धारण करना आवश्यक समझा जाता था। यजुर्वेद के एक मंत्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि वैदिक कर्मकाण्ड में निपुण, धैर्यवान मनीषीगण विदथ में आसन ग्रहण करते थे।[4] यजुर्वेद में दी गयी इस व्यवस्था से ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता के लिए वैदक कर्मकाण्ड का पूर्ण ज्ञाता, मनन-शील, चिन्तक एवं धैर्यवान् ब्राह्मण आवश्यक होता था। ऋग्वेद के एक प्रसंग में विदथ के कवियों की संस्था बतलायी गयी है।[5] इससे ज्ञात होता है कि विदथ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए पुरुष को क्रान्तदर्शी होना आवश्यक था।

इन योग्यताओं के अतिरिक्त, वाणी सम्बन्धी कतिपय विशेष योग्यताएँ भी विदथ का सदस्य होने के लिए निर्धारित की गयी है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में, विदथ में आसन ग्रहण करने का अधिकारी वह पुरुष बतलाया गया है जो विदथ के सम्मेलनों में स्पष्ट, ओजपूर्ण, निर्भीक तथा सारयुक्त वचन बोलने में अभ्यस्त हो।[6] इस प्रकार विदथ की सदस्यता हेतु स्पष्ट, ओजपूर्ण, निर्भीक तथा सारगर्भित वाणी का प्रयोगकर्ता ब्राह्मण अधिकारी समझा गया है। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में विदथ की सदस्यता हेतु यथार्थ वक्ता होना आवश्यक योग्यता निर्धारित की गयी है।[7]

इस प्रकार वैदिक युग मे, धीमान्, विद्वान, वैदिक कर्मकाण्ड में दक्ष, क्रान्तदर्शी, मनीषी, धीर, वीर, यथार्थवादी, स्पष्ट, ओजपूर्ण, निर्भीक तथा सारगर्भित वचन बोलने वाला पवित्र आचरणवान् ब्राह्मण विदथ की सदस्यता के योग्य समझा गया था।

१. ३।९३।७ ऋग्वेद। २. १३।३९।२ ऋग्वेद। ३. १।३९।२ ऋग्वेद।
४. ३।३४ यजुर्वेद। ५. २।१।३ ऋग्वेद। ६. १३।२।२ ऋग्वेद।
७. १।१६७।१ ऋग्वेद।

विदथ की सदस्य संख्या, सदस्यों की नियुक्ति-प्रणाली तथा नियुक्ति करने के अधिकारी, सदस्यों के कर्त्तव्य एवं अधिकार, उनकी कार्य प्रणाली आदि विषयों के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में तथ्यपूर्ण सामग्री का अभाव है। अतः इन प्रश्नों के समाधान हेतु सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

विदथ का अध्यक्ष

यह सम्भव नहीं कि विदथ जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था की बैठकें इसके अध्यक्ष के बिना नियमानुसार संचालित की जा सकती हों। इसलिए विदथ का अध्यक्ष होना स्वाभाविक है। वैदिक साहित्य मे इस महत्त्वपूर्ण विषय पर कुछ भी कहा नहीं गया है। इसमें कतिपय ऐसे संकेत अवश्य है जिनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि विदथ का एक अध्यक्ष भी होता था। विदथ का कार्यसंचालन इसी अध्यक्ष के अधीन होता था। विदथ का यह अध्यक्ष उसकी बैठको एवं विशेष सम्मेलनों में विदथ के सदस्यों को अनुशासन में रखता था। इसी अध्यक्ष के नियंत्रण में रहते हुए विदथ के सदस्य वाद-ग्रस्त विषयों पर विचार करते थे और तदनुसार अपने मत पृथक्-पृथक् व्यक्त करते थे। इस प्रकार विदथ के सदस्यों के मतों को जानकर उनके बहुमत अथवा सर्व सम्मति के आधार पर वे निर्णय पर पहुँचते थे और तदनुसार उक्त निर्णय को यथासम्भव कार्यान्वित करते थे।

विदथ का यह अध्यक्ष प्रधान पुरोहित होता होगा जिसे वैदिक साहित्य में ब्रह्मणस्पति की उपाधि दी गयी है। अथर्ववेद के एक मंत्र में पुरोहित को ब्रह्मणस्पति की उपाधि से सम्बोधित किया गया है। इस मंत्र में पुरोहित को उद्बोधित करते हुए इस प्रकार प्रार्थना की गयी है—हे पुरोहित! उठ, विद्वान् ब्राह्मणों का यज्ञ द्वारा उद्बोधन कर अथवा देवों को मंत्र द्वारा जाग्रत कर। यजमान की आयु, प्राणशक्ति, सन्तति, कीर्ति और उसके पशुओं की वृद्धि कर।[1] ब्रह्मणस्पति को, ऋग्वेद में, विदथ का संचालक एव नियन्ता बतलाया गया है।[2] इससे स्पष्ट है कि प्रधान पुरोहित विदथ का अध्यक्ष होता था।

विदथ के कार्य

वेदों में विदथ का सम्बन्ध यज्ञ के सम्पादन से जोड़ा गया है। इससे ज्ञात होता है कि विदथ का सर्वोपरि वैदिक कार्य वैदिक यज्ञों का आयोजन करना और

१. १।६३।१९ अथर्ववेद। २. १९।२३।२ ऋग्वेद।

उनका विधिवत् अनुष्ठान करना था। यज्ञ सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्मकाण्ड के व्यावहारिक रूप का निर्धारण करना और उसे तदनुसार कार्यान्वित करना विदथ का प्रधान कार्य था। यज्ञों के अनुष्ठान सम्बन्धी सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक कृत्यों के विषय में विद्वानों में जो-जो भिन्न मत होते थे उनका हेतुयुक्त समाधान कर उन्हें एकरूपता देना इस संस्था का दूसरा मुख्य कर्तव्य था। इस प्रकार विदथ का सर्वोपरि कर्तव्य वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान मे जो गुत्थियां अथवा अड़चनें समय-समय पर आती रहती थीं उनका हेतुपूर्ण समाधान तथा शमन करना रहता था।

विदथ का मुख्य कर्तव्य सत्य की खोज करना और उसके साधनों को जुटाना भी था। वैदिक युग में सत्य को ही धर्म माना गया है।[1] इसलिए लोक को धर्मपथ प्रदर्शन करना इस संस्था का विशेष कर्तव्य था। इस प्रकार वैदिक जीवन के अनुसार लोक के परम एवं चरम ध्येय का उपलब्धि के लिए सुपथ प्रशस्त करने की योजना का प्रस्तुत करना तथा सत्य की खोज करना विदथ का उद्देश्य था। इसलिए विदथ लोक में जीवन के उन तत्वों की खोज मे निरन्तर सलग्न रहती थी जो सत्य एवं चिरन्तन है और जिनकी उपलब्धि मनुष्य को अमरत्व पद की प्राप्ति कराती है।

इस प्रकार विदथ वैदिक आर्यो की वह संस्था थी जिसमें ब्रह्म, जीव, आत्मा, प्राण, मन, प्रकृति आदि से सम्बन्धित जटिल एवं रहस्यपूर्ण समस्याओं का समाधान किया जाता था। विदथ मे इन विषयों पर प्रवचन, वाद-विवाद, परस्पर विचार विनिमय आदि का आयोजन किया जाता था। वाद-विवाद कभी-कभी उग्र रूप भी धारण कर लेते थे। इसीलिए उग्र वाद-विवादों के नियंत्रण हेतु वेदों में यत्र-तत्र प्रार्थनाएँ की गयी हैं। साथ ही इस विषय की भी प्रार्थना की गयी है कि विदथ में प्रशस्त वाणी का ही प्रयोग होना चाहिए।

यह सम्पूर्ण प्रामाणिक सामग्री विदथ को विद्वत्सभा अथवा विद्वत्परिषद से, जिसका विशेष सम्बन्ध यज्ञ और सत्य की खोज से था, निर्धारित करने की पोषक है और इस आधार पर विदथ के लगभग वही कार्य थे जो कि वैदिक युग में विद्वत्परिषद के कार्य हो सकते थे। वैदिक युग के उपरान्त विदथ नाम की यह संस्था लुप्त हो गयी और इसका स्थान विद्वत्समिति अथवा विद्वत्परिषद ने ग्रहण कर लिया।

१. १४।४।१ बृहदारण्यकोपनिषद्।

अध्याय ११

दूत और चर व्यवस्था

दूत की उपयोगिता

दूत-पद का निर्माण सर्वप्रथम कब, कहाँ और किसके द्वारा हुआ, यह प्रश्न अभी तक शोध का विषय ही बना हुआ है। जहाँ तक मानव-स्मृति का सम्बन्ध है, यह निश्चित एवं निर्विवाद है कि दूत-पद नूतन नहीं है। दूत-पद पुरातन काल से चला आ रहा है। लोक में राज्य व्यवस्था के निर्माण के साथ ही दूत की आवश्यकता अनुभव की गयी होगी। प्राचीन भारत में राज्य के सुसंचालन हेतु दूत और चर के सहयोग की आवश्यकता स्वीकार की गयी है। ये दोनों राजकर्मचारी उपयोगी और आवश्यक बतलाये गये है। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राजा के कर्तव्य पालन के लिए दूत और चर की उपयोगिता प्रमाणित की है। उन्होंने दूत और चर को क्रमशः राजा का मुख और उसके नेत्र बतलाया है।[1] राजा अपने दूत-मुख द्वारा बात किया करते है और अपने चर-चक्षु द्वारा देखा करते हैं। राजा के सो जाने पर भी उसकी ये दोनों इन्द्रियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं।[2] राजाओं में परस्पर बात करने का प्रधान साधन दूत बतलाया गया है। राजा का सन्देश उसके दूत द्वारा अन्य राजा अथवा राजाओं तक पहुँचाया जाता है और उसी प्रकार अन्य राजाओं के संदेश उनके दूतों द्वारा उस राजा को प्राप्त होते रहते हैं। दूत द्वारा राजाओं में परस्पर सन्देश के आदान-प्रदान की यह प्रणाली प्राचीन काल से निरन्तर प्रचलित रही है। इसीलिए प्रत्येक राज्य में दूत-पद महान् उपयोगी एवं आवश्यक समझा जाता है। वैदिक संहिताओं में भी दूत पद की उपयोगिता एवं आवश्यकता के प्रमाण मिलते हैं। उस युग में दूत-पद वैदिक आर्यों में प्रतिष्ठित माना जाता था। ऋग्वेद में दूत को यशस्वी कहकर सम्मानित किया गया है।[3]

उत्तर वैदिक साहित्य में भी दूत की उपयोगिता के प्रमाण उपलब्ध हैं। सफल

१. १६।१६।१ अर्थशास्त्र। २८ से ३०।१२ कामन्दकनीति।
२. २।१०६।१० ऋग्वेद। ३. ऋग्वेद।

दूत असाध्य कार्यों को भी साध्य बनाने में समर्थ माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में सफल दूत की उपयोगिता को लक्षित करने के लिए कुछ उपाख्यान दिये हुए हैं। उनमें एक इस प्रकार है—देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। दोनों एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उनके मध्य गायत्री रूप पृथ्वी उपस्थित हुई। देव और असुर दोनों जानते थे कि पृथ्वी जिस पक्ष में रहेगी वह ही विजयी होगा। दोनों ने पृथ्वी को अपनी ओर करने के लिए पृथ्वी के पास अपने-अपने दूत भेजे। देवों का दूत अग्नि और असुरों का दूत सह राक्षस हुआ। अग्नि दूत अपने कार्य में सफल हुआ। फलस्वरूप पृथ्वी देवों के पक्ष में आ गयी। इस प्रकार देव विजयी हुए।[1]

इसी प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में एक और उपाख्यान दिया हुआ है जो इस प्रकार है—किसी कारण कुपित होकर वाक् सिंहनी का रूप धारण कर देव और असुरों को पकड़ने लगी और उनका नाश करने में तत्पर हुई। देव और असुर दोनों ने उसे अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। दोनों ने इस कार्य हेतु अपने-अपने दूत उसके पास भेजे। देवों का दूत अग्नि और असुरों का सह राक्षस हुआ। देवों का दूत अग्नि अपने कार्य में सफल हुआ और इस प्रकार वह वाक् को समझा कर देवों के पक्ष में ले आया।[2]

इस प्रकार वैदिक युग में दूत की उपयोगिता प्रमाणित की गयी है और यह स्पष्ट सिद्ध किया गया है कि कुशल दूत की सफलता से उसके राजा के दुःसाध्य कार्य भी सुसाध्य बन जाते हैं।

देवदूत

वैदिक साहित्य में अनेक देवों का उल्लेख है। इन देवों में कुछ ऐसे भी देव हैं जिन्हें देवगणों के दूत की उपाधि से विभूषित किया गया है। वेदों में अग्नि को आदर्श दूत बतलाया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में सूर्य का दूत अग्नि बतलाया गया है।[3] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में अग्नि को देव-दूत कहकर सम्बोधित किया गया है। इसी वेद में अग्नि अभ्र का दूत बतलाया गया है।[4] इसी वेद के एक अन्य प्रसंग में अग्नि प्रजा (विश) का दूत वरण किया गया है।[5] इसी प्रकार अन्य वैदिक साहित्य

१. १।३।३।३४ शतपथ ब्राह्मण। २. २१–२२।१।५।३ शतपथ ब्राह्मण।
३. १।५८।१ ऋग्वेद। ४. २।९।४ ऋग्वेद। ५. ५।३६।१ ऋग्वेद।

में भी अग्नि को दूत की उपाधि दी गयी है। अग्नि पदार्थों को जलाकर भस्म कर देता है और भस्म किये गये पदार्थ के सार को ग्रहण कर एक स्थान से दूसरे स्थान में ज्यों का त्यों पहुँचा देता है। दूत भी अपने क्षेत्र में यही कार्य करता है। दूत अपने स्वामी का सन्देश एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता है और उस सन्देश को ज्यों का त्यों निश्चित स्थान तक ले जाकर निर्दिष्ट व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत करता है। वेदों में वायु को भी दूत की संज्ञा दी गयी है और तदनुसार उसे भी दूत कहकर सम्बोधित किया गया है।[1]

इन देवदूतों के अतिरिक्त कतिपय पक्षियों को भी दूत बनाये जाने की ओर वेदों में संकेत किये गये हैं। ऋग्वेद में यम के ऐसे कुछ दूतों का उल्लेख है। कपोत और उलूक पक्षी यम देव के विशेष दूत बतलाये गये हैं।[2] अथर्ववेद में कपोतों और उलूकों को निर्ऋति देव के दूत की संज्ञा दी गयी है।[3]

वैदिक साहित्य के इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में देवों में दूत व्यवस्था की कल्पना वैदिक ऋषियों के द्वारा की जा चुकी थी। इससे यह भी स्पष्ट है कि वैदिक आर्य दूत व्यवस्था के सम्यक् संगठन एवं उसके विधिवत् संचालन की उपयोगिता एवं आवश्यकता का अनुभव कर चुके थे।

राजदूत

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि वैदिक देवों में दूत-व्यवस्था अपनायी जा चुकी थी। इस आधार पर यह स्वीकार किया जाना कि वैदिक आर्य राजा का निर्माण हो जाने के उपरान्त राज्य के सुसंचालन हेतु दूत-व्यवस्था का आश्रय अवश्य लिया गया होगा, न्याययुक्त होगा। जो जाति अपने वेदों में सुशासन हेतु दूत-व्यवस्था की स्थापना की कल्पना कर सकती और उस व्यवस्था की आवश्यकता एवं उपयोगिता का अनुभव कर सकती थी, वह जाति अपने राज्य में उस व्यवस्था को स्थान न दे; सम्भव नहीं है। इसलिए यह सर्वमान्य जान पड़ता है कि वैदिक आर्य राज्यों में अपने समय के अनुसार दूत-व्यवस्था को भी यथासम्भव स्थान दिया गया था।

उपर्युक्त तथ्य के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कतिपय स्पष्ट प्रमाण भी हैं जिनमें इस विषय का उल्लेख है कि वैदिक आर्य राज्यों में दूत-व्यवस्था का संचालन

१. ३।१३।४ ऋग्वेद। २. ४।१६५।१० ऋग्वेद। ३. २।२९।६ ऋग्वेद।

विधिवत् होता था। इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में दूत-व्यवस्था आधुनिक युग की दूत-व्यवस्था की अपेक्षा कम विकसित थी। वह अपनी शैशव अवस्था की स्थिति मात्र में थी।

ऋग्वेद के एक प्रसग मे दूत द्वारा वहन किये जाने वाले सन्देश को दूत्य और उसके कार्य को दूत्यकर्म की संज्ञा दी गयी है।[1] ऋग्वेद में कतिपय ऐसे प्रसंग भी संक्षेप में पाये जाते है जिनके गम्भीर एव विधिवत् अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेदीय आर्य राजा दूत-व्यवस्था को आवश्यक एवं उपयोगी समझते थे और दूत-प्रेषण कार्य मे आस्था रखते थे। उस युग में दूत-प्रेषण प्रथा का उदय हो चुका था और यह कार्य सुव्यवस्थित रूप में सम्पन्न होना उनकी दृष्टि में श्रेयस्कर समझा जाता था। इस तथ्य की पुष्टि में सबसे स्पष्ट एवं ज्वलन्त प्रमाण ऋग्वेद के दसवें मण्डल का एक सौ आठवां सूक्त है। इस सूक्त में आर्य राजा इन्द्र की सरमा नाम की दूती और इन्द्र-शत्रु पणियों के राजा के मध्य हुए एक महत्वपूर्ण संवाद का वर्णन हुआ है।

इस संवाद से ज्ञात होता है कि इन्द्र पणियों से धन-प्राप्ति का इच्छुक था। पणि जाति उस युग मे विशेष व्यापारी एवं धनी थी। इसलिए पणियों से धन की प्राप्ति हेतु इन्द्र ने इस उद्देश्य का अपना सन्देश सरमा नाम की अपनी दूती द्वारा पणियों के राजा के पास भेजा था। इन्द्र ने अपनी इस दूती द्वारा यह सन्देश भेजा था कि पणियों का राजा उसे धन प्रदान कर दे। यदि वह राजा इन्द्र के इस आदेश की अवहेलना करता तो पणियों को युद्ध हेतु कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस प्रसंग में इन्द्र की दूती सरमा और पणियों के राजा के मध्य जो सवाद ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त में प्राप्त है वह सामयिक होने के कारण यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"पणि राजा का वचन—

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदं मानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।

कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि ॥१।१०८।१०

सरमा ! तुम क्या किसी इच्छा की पूर्ति हेतु यहाँ आयी हो ? यह मार्ग तो अति दूरी का है। इस मार्ग पर आते समय पीछे की ओर दृष्टि फेरने पर नहीं आना हो सकता। हमारे पास कौन-सी वस्तु है, जिसके लिए तुम यहाँ आयी हो ? कितनी रातों में आयी हो ? नदी के जल को किस प्रकार पार किया ?

१. १।१६१।१ ऋग्वेद।

सरमा का उत्तर—

इन्द्रस्य दूती रिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः ।

अतिष्कदो भियसा तन्न आवत् तथा रसाया अतरं पयांसि ॥२।१०८।१०

मैं इन्द्र की दूती बनकर आयी हूँ। पणियों से धन-प्राप्ति की मेरी इच्छा (इन्द्र की इच्छा) है। जल ने मेरी रक्षा की है। जल से भय तो हुआ था, परन्तु उसे लाँघ-कर चली आयी। इस प्रकार मैं नदी पार कर चली आयी।

पणि राजा का वचन—

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।

आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाऽथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥३।१०८।१०

सरमा ! जिस इन्द्र की दूती बन कर तुम इतनी दूरी से आयी हो, वह इन्द्र कैसा है ? उसका कितना पराक्रम है ? उसकी कैसी सेना है ? इन्द्र (यहाँ) आये। हम उसे मित्र बनाने के लिए प्रस्तुत हैं। वह हमारी गायें लेकर उनका स्वामी बने।

सरमा-वचन—

नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स यस्येदं दूतीरसरं पराकात् ।

न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥४।१०८।१०

जिस इन्द्र की दूती बन कर मैं दूर देश से आयी हूँ, उसे कोई हरा नहीं सकता। वह ही सब को हराता है। गहन-गम्भीर नदियाँ भी उसकी गति को रोकने में समर्थ नहीं हैं। तुम्हें इस सम्पूर्ण जाति सहित निश्चय ही वह मार कर सुला देगा।

पणिराज-वचन—

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान् सुभगे पतन्ती ।

कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्माः ॥५।१०८।१०

सुन्दरी सरमा ! तुम स्वर्ग की सीमा पर से आ रही हो; इसलिए इन गौओं में से जिन-जिन को चाहो, तुम उन्हें ले सकती हो। बिना युद्ध के कौन तुम्हें गायें देता ? हमारे पास भी अनेक तीक्ष्ण आयुध हैं।

सरमा-वचन—

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।

अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात् ॥६।१०८।१०

तुम्हारी बातें सैनिकों के योग्य नहीं हैं। ये शरीर कहीं इन्द्र के बाणों का लक्ष्य न बन जायँ। तुम्हारे यहाँ आने का जो यह मार्ग है, इस पर देव गण कहीं आक्रमण

न कर बैठें। मुझे सन्देह है कि पीछे बृहस्पति क्लेश देंगे—यदि तुम गौएँ नहीं दे दोगे तो आपद्ाएँ सन्निकट हैं।

पणिराज-वचन—

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥७।१०८।१०

सरमा! हमारी सम्पत्ति पर्वतों के द्वारा सुरक्षित है—गायों, अश्वों और अन्यान्य धनों से युक्त है। रक्षा कार्य में समर्थ पणि योद्धा इस विपुल सम्पत्ति की रक्षा करते हैं। गायों द्वारा शब्दायमान हमारे स्थान पर तुम व्यर्थ ही आयी हो।

सरमा-वचन—

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अंगिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद् वचः पणयो वमन्नित् ॥८।१०८।१०

अंगिरस्, अयास्य ऋषि और नवगुण सोमपान से प्रमत्त होकर यहाँ आयेंगे और इन सम्पूर्ण गायों का बटवारा करके इन्हें ले जायेंगे। उस समय तुम्हें ऐसी दर्पोक्ति त्यागनी पड़ेगी।

पणिराज-वचन—

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥९।१०८।१०

सरमा! देवों ने भयभीत होकर तुम्हें यहाँ हमारे पास भेजा है। इसीलिए तुम यहाँ आयी हो। तुम्हें हम भगिनी स्वरूप समझते हैं। तुम अब लौट कर वहाँ मत जाना। सुन्दरी, हम तुम्हें गोधन का अंश देते है।

सरमा-वचन—

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरंगिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥१०।१०८।१०

मैं भ्राता और भगिनी की कथा नही समझ सकती। इन्द्र और अंगिरा-वंशीय जानते हैं कि गौएँ पाने के लिए उन्होंने रक्षापूर्वक मुझे भेजा है। मैं उनका आश्रय पाकर आयी हूँ। पणि लोग यहाँ से दूर भाग जायें।

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ॥११।१०८।१०

पणि लोग यहाँ से बहुत दूर भाग जायें। गौएँ कष्ट पा रही हैं। वे धर्म के आश्रय में इस पर्वत से लौट चलें। बृहस्पति, सोम, सोमाभिषवकर्ता पत्थर, ऋषि और मेधावी लोग इस गुप्त स्थान में स्थित गायों की बात जान गये हैं।"

इस संवाद के आधार पर ज्ञात होता है कि ऋग्वेदीय राजा दूत रखते थे। इन दूतों के द्वारा राजा परस्पर बात किया करते थे। इन दूतों के द्वारा राजाओं के सदेशों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता था। दो राजाओं में परस्पर युद्ध की घोषणा होने के पूर्व विजयाभिलाषी राजा अपने शत्रु राजा को इस विषय की सूचना देना अपना कर्तव्य समझता था कि वह अमुक कारण से उसके विरुद्ध युद्ध करेगा। यदि वह युद्ध से बचना चाहता हे तो उसे युद्ध के उस कारण को दूर कर देना चाहिए। शत्रु राजा अपने विरुद्ध राजा के दूत को येन-केन प्रकारेण अपने पक्ष में कर लेने का भी प्रयत्न करता था। पणि-नरेश ने इन्द्र की दूती सरमा को अपने पक्ष में कर लेने का भरसक प्रयत्न किया था। उसने उसे अतुल धनराशि देने और उसे अपनी भगिनी मान लेने तक का प्रलोभन दिया था। परन्तु सच्चा दूत ऐसे प्रलोभन में कभी नहीं फँसता। वह अपने स्वामी का भक्त बना रहना अपना परम कर्तव्य समझता है। दूत की ऐसी योग्यता इस बात पर विशेष रूप में निर्भर समझी जाती थी कि वह अपने स्वामी के प्रताप को प्रकट कर शत्रु को आतंकित करके अपने राजा के कार्य-सम्पादन में किस मात्रा में सफलता प्राप्त करने में समर्थ होता है।

ऋग्वेदीय दूत व्यवस्था में एक विशेषता यह भी थी कि पुरुष और स्त्री दोनों दूत पद पर नियुक्त किये जाते थे। इस दृष्टि से पुरुष और स्त्री दोनों दौत्यकर्म करने के लिए समान अधिकारी थे। इन्द्र ने सरमा नाम की नारी को दूत पद पर नियुक्त किया था। ऋग्वेद में नारी दूत को दूती की संज्ञा दी गयी है।[1]

दूत की योग्यता

जिन गुणों एवं योग्यताओं से दूत सम्पन्न होना चाहिए, वेदों में उनका स्पष्ट वर्णन नहीं है। परन्तु उनमें यत्र-तत्र कुछ ऐसे प्रसंग अवश्य हैं जिनमें दूत पद के निमित्त वांछनीय कुछ योग्यताओं की ओर संकेत प्राप्त हैं। ऋग्वेद के एक प्रसंग में यह संकेत किया गया है कि दूत मित्र, वरुण और अर्यमा के समान होना चाहिए। ऋग्वेद में

१. ३।१०८।१० ऋग्वेद।

अर्यमा इस संकेत से ज्ञात होता है कि दूत मित्र देव के समान प्राणी मात्र का हितैषी, वरुण के समान उदार और अर्यमा के समान न्यायकारी होना चाहिए। ऋग्वेद में इसी प्रसंग में व्यवस्था दी गयी है कि जो पुरुष इन गुणों से युक्त अपने दूत रखते हैं, वे विजयी होते हैं। ऋग्वेद के इस प्रसंग के अनुसार दूत प्राणी मात्र का हितैषी, उदार तथा न्यायकारी होना चाहिए। इन गुणों से युक्त दूत सफल श्रेणी में परिगणित होते थे।

ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में संकेत किया गया है कि दूत अग्नि के समान गृहपतियों एवं राष्ट्रवासियों (विशः) में आनन्द की वृद्धि करने वाला होना चाहिए।[1] इस संकेत के आधार पर ऋग्वेद के अनुसार दूत का आचरण एवं व्यवहार राष्ट्रवासियों एवं शासक वर्ग, दोनों को आनन्दित करने वाला होना चाहिए।[2] ऋग्वेद के एक स्थल पर दूत के विशेष गुणों की ओर संकेत किया गया है। वे हैं यथोक्त कथन और सन्देश वहन करने एवं उसके प्रस्तुत करने में विलम्ब न करना।[3] इसी प्रसंग में ऋग्वेद के एक मंत्र में दूत के लिए तन्द्रा-रहित होना एक विशेष गुण निर्धारित किया गया है।[4] इसलिए दूत तन्द्रा-त्यागी व्यक्ति होना चाहिए। उसे आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता आदि दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर श्रेष्ठ दूत के कतिपय लक्षण इस प्रकार संकेत रूप में वर्णित हैं—दूत श्रेष्ठ एवं बलवान् पुरुष होना चाहिए। उसे यथोक्तवादी तथा भ्राता तुल्य सहायक होना चाहिए। दूत निन्दारहित पुरुष तथा श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए।[5]

इस प्रकार ऋग्वेद में दूत पद के लिए उच्च कोटि की योग्यताएँ निर्धारित की गयी है। ये गुण अथवा योग्यताएँ मुख्य तीन श्रेणियों में परिगणित की जा सकती है। प्रथम श्रेणी की योग्यता के अन्तर्गत कुल की श्रेष्ठता बतलायी गयी है। इस योग्यता के अनुसार दूत का वरण श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न व्यक्तियों में से किया जाना चाहिए। इस प्रसंग में श्रेष्ठ कुल से ऋग्वेद का क्या तात्पर्य है स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः श्रेष्ठ कुल का तात्पर्य आचरणवान् कुल से समझा गया हो, अर्थात् वह कुल अथवा परिवार जो शुद्ध एवं शिष्ट आचरण के लिए ख्याति प्राप्त कर चुका हो। दूसरी श्रेणी में दूत की वे योग्यताएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध दूत के व्यक्तित्व से होना

१. ४।३६।१ ऋग्वेद। २. ५।३६।१ ऋग्वेद। ३. ८।४३।५ ऋग्वेद।
४. ५।१०।७ ऋग्वेद। ५. १।१६१।१ ऋग्वेद।

है। इस श्रेणी की योग्यताओं के अनुसार दूत बलसम्पन्न, प्रसन्न मुद्रा में रहने वाला एवं निर्मल चरित्रवान् व्यक्ति होना चाहिए। उसे प्राणी मात्र का हितैषी, उदार, न्याय-प्रिय और भ्राता के समान दूसरों की सहायता करने वाला होना चाहिए। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत दूत पद के लिए विशेष रूप में वांछनीय जो गुण एवं योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं वे हैं यथोक्तवादिता, शीघ्र कार्य कर देने की क्षमता और तन्द्रा रहित होना।

इन गुणों एवं योग्यताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में दूत पद के लिए परम उपयोगी एवं आवश्यक गुण कार्यपटुता है, अर्थात् दूत की विशेष सफलता इसमें है कि उसमें चरित्रबल, व्यवहार-पटुता एवं बुद्धिकौशल इस मात्रा में होना चाहिए जिसका आश्रय लेकर वह अपने स्वामी के कष्टसाध्य कार्य को भी सरल साध्य बना दे। ऋग्वेद में इन्द्र की दूती सरमा और शतपथ ब्राह्मण में देवों के दूत अग्नि को सफल कोटि के दूतों में परिगणित किया गया है। उनकी सफलता का मुख्य कारण उनमें इन्हीं गुणों एवं योग्यताओं का विशेष रूप में होना था। इन्ही गुणों एवं योग्यताओं का आश्रय लेकर सरमा और अग्नि ने क्रमशः इन्द्र और देवों के कष्टसाध्य कार्य को सरल साध्य बना दिया था।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में दूत पद के लिए आवश्यक गुण एवं योग्यताएँ संकेत रूप मे लक्षित की गयी है। दूत पद के लिए ये गुण एवं योग्यताएँ आधुनिक युग में भी उतनी ही उपयोगी समझी जाती हैं जितनी कि वैदिक युग में उपयोगी समझी गयी थी।

चर

वैदिक युग में चर व्यवस्था की स्थापना हो चुकी थी, चर व्यवस्था की पुष्टि के प्रमाण ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में उल्लेख है कि देव गण लोक के विषय की सूचना प्राप्त करने के लिए चर रखते थे। चर इस लोक में सर्वत्र भ्रमण किया करते थे और प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों को देखते हुए उनका पूर्ण ब्यौरा रखते थे। इसके आधार पर चर लोग अपने स्वामी (देव) को तदनुसार सूचना दिया करते थे।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक युग में आर्य राजा भी अपने अधीन प्रजा के सुख-

१. ८।१०।१० ऋग्वेद।

कुल जानने के लिए चर रखते थे। चर हर समय अपने इस कर्तव्य पालन में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार वेदकालीन आर्य राज्यों में चर-व्यवस्था का उदय हो गया था।

वेदों में चर को स्पश नाम से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में वरुण देव अपने स्पश समूह से घिरे हुए वर्णित हैं।[1] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में वरुण देव अपने स्पशों के मध्य चारों ओर से घिरे हुए बैठे हैं, ऐसा दृश्य दिखलाया गया है।[2] इसी वेद के एक अन्य स्थल पर इन्द्र अपने स्पशों के मध्य बैठे हुए दिखलाये गये है।[3] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है कि वह अपने स्पश लोक में भेजे।[4] अथर्ववेद के एक प्रसंग में वरुण देव की ओर संकेत करते हुए बतलाया गया है कि उनके स्पश अपनी सहस्त्रों आँखों से प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते हुए पृथ्वी पर विचरण करते रहते है।[5] अथर्ववेद के एक अन्य स्थल पर रुद्र के स्पश पद-पद पर स्थित बतलाये गये है।[6]

इस प्रकार वेदों में आये हुए इन प्रसगों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में स्पश होते थे जो प्राणियों के शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते रहते थे और तदनुसार उनकी सूचना अपने स्वामी तक पहुँचाते रहते थे। इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद के "यम-यमी" सूक्त द्वारा स्पष्ट रूप से हो जाती है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में "यम-यमी" नाम का एक सूक्त है। इस सूक्त में यम और यमी इन दो व्यक्तियों का संवाद है। इसका विषय काम-वृत्ति की तृप्ति हेतु यमी की यम से प्रार्थना और यम का उसकी इस प्रार्थना को अस्वीकार कर देना है। यम और यमी भ्राता और भगिनी है। वे निर्जन स्थान में हैं। इस प्रसंग में काम-वेदना से विशेष व्यथित होने के कारण यमी का विवेक नष्ट हो गया। यमी यम से अनुनय-विनय पूर्वक स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना करती है कि वह उसकी कामना को शान्त कर देने की कृपा करे। परन्तु यम उस के समक्ष लोकापवाद का भय प्रस्तुत करता है और इस प्रकार उसकी कामतृप्ति सम्बन्धी प्रार्थना को अस्वीकार कर देता है। ऐसा देखकर यमी यम से पुनः प्रार्थना करती हुई कहती है कि वह निर्जन स्थान में उसकी कामना शान्त कर दे और इस प्रकार उसके इस कार्य के देखने व सुनने का अवसर किसी अन्य प्राणी को न मिल सके। ऐसी दशा में लोकापवाद का लेश मात्र भी भय नहीं है। यमी के इस सुझाव को अस्वी-

१. १।२५।१ ऋग्वेद। २. ३।८।७।७ ऋग्वेद। ३. ८।३३।१ ऋग्वेद।
४. ३।४।४ ऋग्वेद। ५. ४।१६।४ ऋग्वेद। ६. ६।६।५ अथर्ववेद।

कार करता हुआ यम उस से कहता है—देवों के स्पश प्रत्येक स्थान पर हर समय भ्रमण करते रहते हैं। वे प्राणियों के सभी शुभाशुभ कार्यों का अवलोकन करते रहते हैं और तदनुसार उनकी सूचना अपने स्वामी तक पहुँचाते रहते हैं। अपने इस कर्तव्य पालन में वे लेशमात्र भी प्रमाद नहीं करते। इस प्रकार प्राप्त सूचना के आधार पर प्राणियों के सम्बन्धित शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें फल मिला करते हैं।[1]

ऋग्वेद के उपर्युक्त "यम-यमी" सूक्त के आधार पर इस विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता कि वैदिक युग में चर-व्यवस्था का उदय हो चुका था और वैदिक आर्य इस व्यवस्था से भली-भाँति परिचित थे।

परन्तु इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना नितान्त आवश्यक है कि दूत और चरों के प्रकार, उनकी नियुक्ति एवं वियुक्ति के नियम, उनके आचरण-व्यवहार नियम, विशेषाधिकार, प्राधिकार आदि के विषय में किसी प्रकार की भी सूचना वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से प्राप्त नही है। इसलिए इन नियमों पर कुछ भी प्रकाश डाला जाना सम्भव नही है। इस के साथ ही यह भी निर्विवाद है कि इस विषय की आशा करना कि वैदिक युग में दूत एवं चर-व्यवस्था का संगठन एवं उसका संचालन तत्सम्बन्धी आधुनिक प्रणाली के समकक्ष रहा हो, भूल होगी। आधुनिक युग में दूत एवं चर व्यवस्था विशेष विकसित अवस्था को प्राप्त हो चुकी है। परन्तु यह सहस्रों वर्षों के अनुभव की देन है। वैदिक युग में ये संस्थाएँ एवं तत्सम्बन्धी व्यवस्थाएँ अपनी शैशवावस्था में थी और इस प्रकार अविकसित या आंशिक विकसित अवस्था में ही रहीं। परन्तु वैदिक आर्यों के लिए यह कम गौरव की बात नहीं है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व उन्होंने दूत और चर के महत्त्व एवं उनकी उपयोगिता को समझ लिया था, और इस आधार पर उन्होंने इन्हें अपने समकालिक राज्यों में उचित स्थान दिया था।

१. ८।१०।१० ऋग्वेद।

अध्याय १२

राज्य की रक्षा

राज्य के शत्रु

प्रत्येक राज्य के कुछ शत्रु होते हैं जो उसे नाश की ओर ले जाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। ये शत्रु उसे संकट-ग्रस्त रखने और उसकी शान्ति एवं सुव्यवस्था भंग करने की सतत चेष्टा करते रहते हैं। इन शत्रुओं में उस राज्य के कुछ निवासी भी होते हैं। ये निवासी अपने ही राज्य को निरन्तर क्षीण करने तथा दुर्बल बनाने में संलग्न रहते हैं, अपने अनिष्ट, अप्रिय एवं दुष्ट कर्मों से राज्य को शनैः-शनैः ऐसी परिस्थिति में कर देते हैं कि वह आत्मरक्षा करने में असमर्थ हो जाता है। राज्य का दूसरा शत्रु उस राज्य के समीपवर्ती राज्य होते हैं। सभी राज्य बहुधा अपने पड़ोसी राज्य को दुर्बल तथा क्षीण कर देने एवं उसकी भूमि हरण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे हर समय इस टोह में रहते हैं कि हम कब अपने उस पड़ोसी राज्य की सीमास्थ भूमि दबोच लें अथवा किसी-न-किसी प्रकार उस पर आक्रमण कर दें और इस प्रकार उस राज्य को अपने अधीन कर लें। प्राचीन भारत में राज्य के इन दो श्रेणी के शत्रुओं को क्रमशः आभ्यन्तर शत्रु एवं बाह्य शत्रु की संज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार राज्य के दो शत्रु होते हैं जिन्हें प्राचीन भारत में आभ्यन्तर शत्रु और बाह्य शत्रु के नाम से सम्बोधित किया गया है। इन शत्रुओं से राज्य के मुक्त रहने पर राज्य की रक्षा निश्चित हो जाती है, राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था चिरस्थायी रहती है और राज्य सम्यक् फलता-फूलता रहता है। राज्य के लम्बे इतिहास में ऐसा कोई युग मानवस्मृति में नहीं हुआ है जब कि राज्य अपने इन शत्रुओं के भय से सर्वथा मुक्त रहा हो। राज्य के निर्माण काल से आज तक की अवधि पर्यन्त इन दोनों प्रकार के शत्रुओं से राज्य को किसी-न-किसी रूप में भय अवश्य बना रहा है; यद्यपि समय-प्रवाह के साथ-साथ इस भय के स्वरूप, आकार-प्रकार, प्रभाव आदि में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। इसी प्रकार राज्य के शत्रुओं द्वारा समय-समय पर उपस्थित किये गये भय के निराकरण हेतु राज्य द्वारा जिन साधनों एवं उपायों

का आश्रय लिया गया है, उनमें भी समयानुकूल परिवर्तन, संशोधन एवं विकास होते रहे हैं। आधुनिक युग में राज्य अपने इन शत्रुओं से आत्मरक्षा हेतु पुलिस और सेना रखता है। राज्य के आभ्यन्तर शत्रुओं के नियंत्रण एवं दमन हेतु प्रत्येक आधुनिक राज्य में पुलिस-व्यवस्था की स्थापना की जाती है। बाह्य शत्रुओं से राज्य की रक्षा के निमित्त राज्य सेना रखता है। बाह्य शत्रुओं द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली आपत्तियों से सेना अपने राज्य को मुक्त रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है।

वैदिक युग में भी राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था के मार्ग में विघ्न-बाधा उपस्थित करने वाले यही दो प्रधान शत्रु बतलाये गये हैं। उस युग में भी राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने एवं उन्हें चिरस्थायी रखने के लिए इन दोनों प्रकार के शत्रुओं का सामना करना पड़ता था। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर उन्हें भी ऐसी योजनाएँ निर्माण करनी पड़ती थीं जिनका आश्रय ग्रहण कर राज्य अपने इन शत्रुओं से सुरक्षित रह कर जन-कल्याण सम्बन्धी कार्य सम्पादन कर सके। इन योजनाओं के वास्तविक स्वरूप का बोध कराने के लिए हमारे समक्ष अति अल्प सामग्री है। इसी अल्प सामग्री का आश्रय लेकर उक्त योजनाओं के स्वरूप का यथा सम्भव परिचय यहाँ दिया जायगा।

वैदिक आर्य राज्य के आभ्यन्तर शत्रु

प्रत्येक राज्य में कुछ-न-कुछ ऐसे लोग होते हैं जो दूसरों के जीवन, सम्पत्ति, स्वतंत्रता, मर्यादा, प्रतिष्ठा आदि पर आघात करते रहते हैं जिससे राज्य की शान्ति एवं सुव्यवस्था भंग होती है। उनकी कुवृत्तियों एवं कुचेष्टाओं तथा दुष्कर्मों से समाज की महान् क्षति होती है और इस प्रकार समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था तथा उसकी सुरक्षा संदिग्ध एवं अस्थायी हो जाती है, जिससे जनता में अपने राज्य की सरकार के प्रति असन्तोष एव अश्रद्धा का उद्रेक होता है, जो शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। अपने राज्य की सरकार के प्रति जनता के इस प्रकार असन्तुष्ट एवं अश्रद्धालु हो जाने से वह असन्तुष्ट एवं अश्रद्धालु जनता राज्य में विद्रोह एवं विप्लव करती है और बहुधा गुप-चुप षड्यंत्र रचा करती है। इस प्रकार अराजकता साक्षात् रूप धारण करने लगती है। इसलिए राज्य के इस दुष्ट वर्ग से प्रजा की रक्षा करने के लिए उस वर्ग के नियंत्रण एवं दमन करने की परम आवश्यकता होती है। समाज के इस दुष्ट वर्ग का नियंत्रण एवं दमन किये बिना राज्य की रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए आदि काल से वर्तमान काल पर्यन्त राज्यों के समक्ष यह समस्या किसी-न-किसी रूप में बनी

ही रही है। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राज्य के समक्ष भी यह समस्या थी कि समाज के इस दुष्ट वर्ग का नियंत्रण एवं दमन किस प्रकार किया जाना चाहिए।

वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस युग में भी मानव समाज में कुछ ऐसे लोग थे जो दूसरों के जीवन, उनकी सम्पत्ति, स्वतंत्रता, मर्यादा, प्रतिष्ठा आदि पर आघात करते रहते थे। वेदों में यत्र-तत्र ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें समाज के इन दुष्ट पुरुषों के नाश हेतु प्रार्थना की गयी हैं। इन प्रसंगों में चोर को स्तेन, डाकू को तस्कर, परस्त्री-गामी को जार और पापी को अघशंसी नाम से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद में स्तेन, तस्कर, जार, अघशंसी आदि समाज के शत्रुओं की ओर संकेत किये गये हैं।[1] समाज को इस दुष्ट वर्ग से शुद्ध एवं रक्षित रखने के लिए उसके नाश हेतु प्रार्थनाएँ की गयी हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी राज्य के इन आभ्यन्तर शत्रुओं के नाश हेतु अनेक प्रसंगों में प्रार्थनाएँ प्राप्त हैं। यजुर्वेद में भी राज्य के इस शत्रुवर्ग के अन्तर्गत स्तेन, तस्कर, जार, मलिम्लून (मलिन आचरणधारी), सुक्वादितान (विषयी) आदि को परिगणित किया गया है।[2] यजुर्वेद में बतलाया गया है कि पापाचारी चोर, डाकू, लम्पट आदि गहन वनों, नदियों के कछारों आदि में छिपे रहते थे और अवसर पाकर असावधान आर्य जनता पर अचानक आक्रमण किया करते थे।[3] अथर्ववेद में भी इसी आशय के अनेक प्रसंग हैं। वैदिक साहित्य के इन उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक युग में आर्य राज्यों में कुछ-न-कुछ लोग ऐसे भी थे जो दूसरों के जीवन, सम्पत्ति, स्वतंत्रता, मर्यादा, प्रतिष्ठा आदि पर आघात करते रहते थे। समाज का यह दुष्ट वर्ग राज्य का शत्रु समझा जाता था। इस दुष्ट वर्ग से समाज की रक्षा होनी आवश्यक थी।

आभ्यन्तर शत्रु के दमन हेतु व्यवस्था

वैदिक युग में राज्य के आभ्यन्तर शत्रुओं के नियंत्रण एवं दमन हेतु राज्य की ओर से जो व्यवस्था की जाती थी उसके बोध हेतु हमारे समक्ष एक भी पुष्ट प्रमाण नही है। ऐसी परिस्थिति में इस व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप का उल्लेख करना

१. ३।५५।७ ऋग्वेद। १६।२३।२ ऋग्वेद। ५।३२।९ ऋग्वेद। ४।३८।९ ऋग्वेद। ३।४।४४ ऋग्वेद।
२. ७७।११ यजुर्वेद। ७८।११ यजुर्वेद।
३. ७९।११ यजुर्वेद।

असम्भव है। परन्तु कतिपय संकेतों के आधार पर, जो कि वैदिक साहित्य में उपलब्ध है, उसका अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में आर्यों के जीवन का जो वर्णन उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि वे ग्रामों में रहते थे और कृषि, पशु पालनादि व्यवसाय मुख्य रूप में धारण किये हुए थे। ग्रामों में ग्राममुखिया, वैदिक साहित्य में जिन्हें ग्रामणी की संज्ञा दी गयी है, होते थे। ग्राम में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना एवं उसे चिरस्थायी रखना ग्रामणी का कर्त्तव्य था। इसलिए चोर, डाकू, जार आदि दुष्ट जनों से ग्राम सुरक्षित रहें, इसके लिए योजना बनाना और उसका कार्यान्वित करना ग्रामणी का परम धर्म था।

ग्रामणी के अतिरिक्त कुछ विशेष राजपुरुष भी होते थे। ये राजपुरुष समाज के इन शत्रुओं के नियंत्रण एवं दमन हेतु सहायता देते थे, समय-समय पर उनके कुकृत्यों एवं कुचेष्टाओं के अनुसार उन्हें दण्ड दिलाने में यथायोग्य योगदान किया करते थे। उनका एक मुख्य कार्य यह था कि वे संदिग्ध आचरणवान् व्यक्ति को पकड़ कर उसके परीक्षण हेतु उसे सम्बन्धित अधिकारी के पास पहुँचाते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार के परीक्षण की ओर संकेत किया गया है।[1] इससे यह अनुमान किया जाता है कि इस श्रेणी के राजपुरुष आधुनिक युग की पुलिस व्यवस्था के जनक थे।

इसके अतिरिक्त आर्य राज्यों में चर-व्यवस्था का भी आयोजन किया जाता था। इस व्यवस्था के अनुसार चर समाज के इस दुष्ट वर्ग के दैनिक जीवन तथा उसके आचरण-व्यवहार का गुप्त निरीक्षण किया करते थे। वे अपने इस निरीक्षण के आधार पर उनकी दुष्ट क्रियाओं एवं चेष्टाओं की सूचना राज्य के अधिकारी वर्ग तक पहुँचाते रहते थे। इस प्रकार वे राज्य के इस शत्रु वर्ग के नियंत्रण एवं दमन कार्य में निरन्तर सक्रिय सहायता देते रहते थे।

इस प्रकार वैदिक आर्य राज्यों में आभ्यन्तर शत्रुओं के नियंत्रण एवं दमन हेतु समयानुकूल व्यवस्था की जाती थी। इस व्यवस्था के अनुसार राज्य के निवासियों को इन दुष्ट जनों के कुकर्मों एवं कुचेष्टाओं से शुद्ध, अप्रभावित एवं सुरक्षित रखने का यथासम्भव प्रयास किया जाता था।

बाह्य शत्रु से राज्य की रक्षा के साधन

प्रत्येक राज्य अपने निवासियों को राज्य के शत्रुओं से सुरक्षित रखने के साधनों

१. २,३।१६।६ छान्दोग्योपनिषद्।

को जुटाए रखता है। इन साधनों में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन सबल सेना का रखना है। वैदिक आर्यों ने भी इस महत्त्वपूर्ण रहस्य को भली भाँति समझ लिया था। इसीलिए सबल सेना रखने के वे भी समर्थक थे। वैदिक साहित्य में सेना एवं उसके संगठन, सचालन, युद्ध एवं युद्धकला आदि के विषय में समुचित प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है। इस सामग्री के आधार पर इन विषयों का तथ्यपूर्ण संक्षिप्त परिचय इस प्रसंग में दिया गया है।

सेना की आवश्यकता

राज्य की रक्षा के लिए सेना परम उपयोगी बतलायी गयी है। सेना राज्य के बाह्य शत्रुओं से उसकी रक्षा करती है। आवश्यकता पड़ने पर वह राज्य में विद्रोहियों का दमन कर आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना भी करती है। आदि काल से वर्तमान युग तक सेना की आवश्यकता लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने स्वीकार की है। राज्य के अस्तित्व के लिए सेना अनिवार्य है, इस तथ्य को प्राचीन भारत में भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया गया है। प्राचीन भारत में राज्य का सप्तांग अथवा सप्तात्मक स्वरूप माना गया है। राज्य के सात अंगों में सेना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस विचार-धारा के अनुसार सेना रहित राज्य अंगहीन पुरुष के समान आत्मरक्षा में असमर्थ बतलाया गया है। इसलिए राज्य की रक्षा के निमित्त सेना अनिवार्य समझी गयी है। आधुनिक युग में भी राज्य की रक्षा का भार प्रधानतः सेना पर ही निर्भर किया गया है। वर्तमान युग में लगभग प्रत्येक राज्य में राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा अंश सेना पर व्यय किया जाता है। इस समय विश्व में एक भी ऐसा राज्य नहीं है जिसमें सेना को महत्त्वपूर्ण स्थान न दिया गया हो।

सेना का संगठन सर्व प्रथम कब, कहाँ और किस के द्वारा हुआ है, इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है। भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। ऋग्वेद में सेना का उल्लेख है। सेना के संगठन के विषय में भी ऋग्वेद में कतिपय संकेत हैं। इसलिए भारत में प्राचीनतम सेना, उसके स्वरूप, उसके संगठन आदि के परिचय हेतु एक मात्र ऋग्वेद का आश्रय लेना अच्छा होगा

वैदिक सेना का स्वरूप

वेदों में यत्र-तत्र सेना का उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें आर्य और अनार्य राज्यों में आत्मरक्षा हेतु सेना रखी जाती थी, इस विषय

का उल्लेख है। एक प्रसंग में, इन्द्र को शत्रु सेना पर विजय प्राप्त हुई थी, इस तथ्य की पुष्टि की गयी है।[1] इसी प्रकार दूसरे प्रसंग में इन्द्र अपनी वीर सेना सहित शत्रु पर विजय की कामना हेतु गमन करते हुए दिखलाया गया है।[2] एक अन्य प्रसंग में इन्द्र की बलवती सेना समर में युद्ध करती हुई वर्णित है।[3] ऋग्वेद के एक स्थल पर रुद्र की सेना से रक्षित रहने के लिए प्रार्थना की गयी है। इसी वेद के एक प्रसंग में सेना अत्यन्त उल्लासपूर्ण होकर युद्ध हेतु गमन करती हुई वर्णित है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक आर्य राज्यों में आत्मरक्षा के निमित्त अपने शत्रुओं के नाश हेतु सेना का होना आवश्यक समझा जाता था। परन्तु यह भी स्पष्ट हो जाना उचित है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में इस प्रश्न के समाधान हेतु प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है कि ऋग्वेदोक्त सेना स्थायी सेना के रूप में थी अथवा युद्ध के समय मे ही आवश्यकतानुसार उसका संगठन कर लिया जाता था। प्रायः सभी विद्वानों का मत है कि उस युग मे स्थायी सेना रखने का चलन न था। युद्ध के उपस्थित होने पर सेना का संगठन कर लिया जाता था और युद्ध के समाप्त होने पर विघटन कर दिया जाता था।

परन्तु वैदिक संहिताओं में कतिपय ऐसे संकेत भी हैं जो सेना के कुछ अंश के स्थायी होने के पक्ष में है। अथर्ववेद में राजकर्ताओं का उल्लेख है। इस प्रसंग में राजकर्ता दो श्रेणियों में विभक्त किये गये है जिन्हें 'राजानो राजकृतः' और 'अराजानो राजकृतः' के नाम से सम्बोधित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में भी इस ओर संकेत किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के इस प्रसंग में सूत और ग्रामणी को द्वितीय श्रेणी के राजकर्ताओं मे स्थान दिया गया है। सेनानी भी एक राजकर्ता होता था। सेनानी का पद स्थायी था। सेनानी का स्थायी पद होने से यह स्पष्ट है कि उसके अधीन कुछ-न-कुछ सेना अवश्य स्थायी रूप मे रहती होगी। अन्यथा उसके सेनापति अथवा सेनानी रहने का उपयोग ही क्या रहेगा। इसके साथ-साथ यजुर्वेद में भी इस ओर संकेत है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के एक प्रसंग में आशु सेना के सम्मान करने के निमित्त व्यवस्था दी गयी है। आशु सेना से यजुर्वेदीय ऋषि का वास्तविक क्या तात्पर्य है, स्पष्ट नहीं है। परन्तु आशु शब्द तत्काल, शीघ्रता आदि भावों को व्यक्त करने के लिए

१. १।१०३।१० ऋग्वेद। २. ८।१०३।१० ऋग्वेद। ३. ७।१०३।१० ऋग्वेद।

प्रयुक्त हुआ है, ऐसा प्रसंग से ज्ञात होता है। इससे स्पष्ट है कि यजुर्वेद में लक्षित आशु सेना उस सेना को बतलाया गया है जिसका युद्धकाल में आवश्यकतानुसार नवीन युवकों की भर्ती कर संगठन कर लिया जाता था। इसी प्रसंग में एक प्रकार की सेना को श्रुत सेना की संज्ञा दी गयी है। श्रुत सेना सम्भवतः राज्य की स्थायी सेना होती होगी। यही सेना राज्य की मूल सेना कही जा सकती है।

इस दृष्टि से सेना दो प्रकार की होती थी। कुछ सैनिक राज्य की वेतनभोगी स्थायी सेना में रहते थे और इन सैनिकों का संगठित समूह श्रुत सेना कहलाता था, जिसने वैदिक युग के उपरान्त कुछ काल में मूल सेना का रूप धारण किया। इस प्रकार वैदिक साहित्य में वैदिक आर्य राज्यों की स्थायी सेना होने के पक्ष में भी कतिपय संकेत प्राप्त हैं।

ऋग्वेद में सेना को सेना, अनीक, पृतना आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। परन्तु सेना के इन विविध भेदों के स्वरूप के विषय में स्पष्ट कुछ भी वर्णन न होने के कारण इनके विशेष लक्षणों का परिचय दिया जाना सम्भव नहीं है। आकार की दृष्टि से भी बड़ी और छोटी सेनाएँ होती थीं। ऋग्वेद में विशाल सेना को 'महासेना' के नाम से सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेद में भी ऋग्वेद के समान ही सेना के अनेक नाम दिये गये हैं। अथर्ववेद में सेना का एक नाम वाहिनी दिया हुआ है।

सेना-संगठन

वैदिक साहित्य में सेना-संगठन के विषय में विशेष वर्णन किसी प्रसंग में भी दिया हुआ नहीं है। परन्तु इस विषय में कतिपय संकेत अवश्य यत्र-तत्र प्राप्त हैं। इन संकेतों से ज्ञात होता है कि वैदिक सेना का विकास चतुरंगिणी सेना के रूप में नहीं हो सका था और न उसने षडंग अथवा अष्टांग सेना का ही रूप धारण किया था। वैदिक आर्य सेना के छः प्रकारों—मौल, भृत, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटविक बल—से भी अनभिज्ञ थे। परन्तु वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनसे स्पष्ट है कि वेद कालीन सेना द्वि-अंगिनी अवश्य थी। सेना के ये दो अंग पदारोही और रथारोही थे। उस युग में गजारोही सेना का निर्माण नहीं हुआ था इसमें दो मत नहीं हैं। अश्वारोही सेना का उदय हो चुका था अथवा नहीं, इस विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक युग में अश्वारोही सेना भी थी। परन्तु दूसरी श्रेणी के विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार भारत में अश्वारोही सेना का उदय वैदिक युग के उपरान्त किसी समय हुआ है। परन्तु अपेक्षाकृत

अधिक विद्वानों का मत इसी पक्ष में है। ये विद्वान्, वैदिक युग में अश्वारोही सेना भी थी, इस मत का विरोध करते हैं।

गजारोही सेना का उदय

मुहन-जो-दड़ो की खुदाई में एक ऐसी मुद्रा प्राप्त हुई है, जिसमें हाथी का चित्र है। इससे ज्ञात होता है कि उस युग में हाथी महत्त्वपूर्ण पशु समझा जाता था। वह बल का प्रतीक माना गया होगा। ऋग्वेद में हाथी को आरण्य पशु की श्रेणी में स्थान दिया गया है।[1] परन्तु ऋग्वेद के ही एक अन्य प्रसंग में इस विषय का संकेत प्राप्त है कि उस युग में हाथी का प्रयोग वाहन रूप में होने लगा था।[2] यजुर्वेद में स्पष्ट बतलाया गया है कि हाथी हिमालय पर्वत पर पाये जाते है।[3] यजुर्वेद में इस ओर भी संकेत किया गया है कि उस युग में हाथी पालतू बनाये जाते थे।[4] अथर्ववेद में हाथी महान् बली पशु बतलाया गया है।[5] अथर्ववेद में उसके तेज की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। इस प्रसंग मे इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—जिस तेज को धारण कर हाथी हाथी कहलाता है वह तेज मुझे प्राप्त हो।[6] अथर्ववेद के एक मंत्र में हाथी सुख की सवारी बतलाया गया है।[7] इसी प्रसंग में यह भी बतलाया गया है कि हाथी का उपयोग असुर करते थे।[8]

परन्तु इतना होने पर भी सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के किसी स्थल पर एक भी ऐसा संकेत प्राप्त नहीं है जिसके आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की जा सके कि वैदिक युग में युद्ध के लिए हाथी का उपयोग वाहन रूप में कभी किया गया हो। इससे सिद्ध होता है कि युद्ध के लिए वाहन रूप में हाथी का उपयोग वैदिक युग के पश्चात् किसी समय हुआ है। यूनानी सम्राट् सिकन्दर ने भारत पर विजय-कामना से आक्रमण किया था। इस आक्रमण के अवसर पर पंजाब में राजा पोरुस से सिकन्दर का भयंकर युद्ध हुआ था। इस युद्ध में सिकन्दर को विजय प्राप्त हुई और इस के उपलक्ष मे उसने एक विशेष मुद्रा का निर्माण कराया था। यह मुद्रा आज उपलब्ध है। इसमें राजा पोरुस को हाथी पर आसीन दिखलाया गया है। इस मुद्रा

१. ७।६४।१ ऋग्वेद। २. १।४।४ ऋग्वेद। ३. ३०।२४ यजुर्वेद।
४. ११।३० यजुर्वेद। ५. ३।२२।३ अथर्ववेद। ६. ३।२२।३ अथर्ववेद।
७. ६।२२।३ अथर्ववेद। ८. ४।२३।३ अथर्ववेद।

के आधार पर स्पष्ट है कि सिकन्दर के भारत-आक्रमण के समय भारतीय नरेश युद्ध में हाथी का उपयोग वाहन रूप में किया करते थे। इस ऐतिहासिक तथ्य का आश्रय लेने से ज्ञात होता है कि भारत में गजारोही सेना का सर्वप्रथम उदय वैदिक युग के पश्चात् और सिकन्दर द्वारा भारत आक्रमण के पूर्व किसी समय हुआ है।

अश्ववारोही सेना पर भिन्न मत

अश्वारोही सेना का सर्व प्रथम उदय भारत में कब हुआ, इस समस्या के समाधान हेतु भी प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। ऋक् और यजुः दोनों वेदों में अश्व की महिमा का गुण गान किया गया है। इन प्रसगों मे अश्व युद्ध के लिए परम उपयोगी पशु बतलाया गया है। अश्व की सहायता के बिना वैदिक आर्य राजा शत्रु पर विजयी होने मे विफल रहते थे। अपनी द्रुत गति एव विशेष पुरुषार्थ के कारण वैदिक युग मे अश्व परम उपयोगी पशु माना गया था। इस आधार पर अश्व की समता बाज पक्षी और हरिण स की गयी है। इस विषय मे ऋग्वेद के एक सूक्त में इस प्रकार वर्णन उपलब्ध है—हे द्रुत गतिशील अश्व! तू श्येन पक्षी के पर और हरिण पशु की टांगों को धारण कर इस पृथिवी पर उत्पन्न हुआ है।[1] यम ने तुझे (अश्व) लोक के निमित्त दिया था, त्रिता ने उसे सर्वप्रथम रथ में जोता था। इन्द्र अश्व पर सर्वप्रथम अधिष्ठित हुआ और गन्धर्वों ने उसकी रासो को ग्रहण किया। वसुओं ने सूर्य स अश्व का निर्माण किया।[2] अश्व को यम, आदित्य, सोम आदि देवों का पद दिया गया है।[3] अश्व मन की गति के समान गतिमान् बतलाया गया है। ऋग्वेद में अश्व युद्धरूपी नदी को पार करने वाली नाव बतलाया गया है।[4] ऋग्वेद के एक स्थल पर अश्व को युद्ध रूपी रोग की ओषधि बतलाते हुए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—ओषधियो! तुम अश्व के समान रोगों के लिए जयशील हो।[5] इसी वेद के एक दूसरे प्रसंग में अश्व अरातियों पर विजय दिलाने वाला पशु बतलाया गया है। यजुर्वेद में भी अश्व की महिमा की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। अश्व की महिमा गाने के लिए यजुर्वेद में ऋग्वेद-वर्णित अश्व के प्रशंसा सम्बन्धी भावों की ही पुनरावृत्ति की गयी है।[6]

इतना होने पर भी यह विषय अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है कि वैदिक

१. १।१६३।१ ऋग्वेद। २. २।१६३।१ ऋग्वेद। ३. ३।१६३।१ ऋग्वेद।
४. ३।९७।१० ऋग्वेद। ५. १५।९६।९ ऋग्वेद। ६. ७७।१२ यजुर्वेद।

आर्यों ने अश्व का उपयोग अश्वारोही सेना के निर्माण हेतु किया था अथवा नहीं। ऋग्वेद में कुछ ऐसे संकेत अवश्य पाये जाते हैं जिनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अश्व की पीठ पर अधिष्ठित होकर योद्धा समरभूमि में प्रवेश करता था। ऋग्वेद के एक प्रसंग में अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है—हे अग्नि ! हम अश्व से अश्व, मनुष्य से मनुष्य और वीरों से वीरों पर विजय प्राप्त करें।[1] एक अन्य प्रसंग में बतलाया गया है कि अश्व पंक्तिबद्ध होकर गमन करते हैं।[2] इसी प्रकार ऋग्वेद के एक स्थल पर अश्व की पीठ पर आसीन होने की ओर संकेत किया गया है।[3] ऋग्वेद में 'अश्वी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] कतिपय विद्वानों ने अश्वी का अर्थ अश्वारोही किया है। ऋग्वेद में एक स्थल पर अश्वों के खुरों से उड़ायी गयी धूलि से आकाश के आच्छादित होने का वर्णन है।[5] यजुर्वेद के एक प्रसंग में सैनिकों को उत्साहित करने के लिए प्रार्थना की गयी है। इस प्रार्थना में आयुधों के प्रखर करने, सैनिकों में उत्साह का उद्रेक करने, अश्वों के तीव्र गति से गमन करने और रथों के घोष करने के लिए कामना की गयी है।[6] यजुर्वेद के इस संकेत से वैदिक सेना का त्रि-अंगिनी होना प्रमाणित होता है। इस त्रि-अंगिनी सेना के तीन अंग—पैदल सेना, अश्वारोही सेना और रथारोही सेना—की ओर अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ संकेत किया गया है। अथर्ववेद के एक प्रसंग में बतलाया गया है कि अश्व अपने तन पर तन (मनुष्य शरीर) का वहन करता है।[7] अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग में इन्द्र अश्व की पीठ पर सवार होकर गमन करता हुआ वर्णित है।[8]

परन्तु इस सांकेतिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध नहीं होता कि वैदिक युग में अश्वारोही सेना भी थी, जो समर भूमि में प्रवेश कर युद्ध किया करती थी। इसलिए इन संकेतों मात्र के आधार पर इस विषय में किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में यह विषय अभी शोध हेतु समस्या ही रहेगा जब तक कि वैदिक अश्वारोही सेना होने अथवा न होने के पक्ष में कोई नवीन पुष्ट प्रमाण प्राप्त न हो जाय। इसलिए वैदिक सेना को द्वि-अंगिनी ही स्वीकार कर लेना उचित है। वैदिक द्वि-अंगिनी सेना के दो अंग पदाति सेना और रथारोही सेना थे।

१. ९।७३।१ ऋग्वेद। २. १०।१६३।१ ऋग्वेद। ३. १५।१२।२० अथर्ववेद।
४. १६।२७।२ ऋग्वेद। ५. ४।२८।६ ऋग्वेद। ५।८१।१ ऋग्वेद।
६. ४२।१७ यजुर्वेद। ७. ३।९२।६ अथर्ववेद। ८. १५।१२८।२० अथर्ववेद।

पदाति सेना

वैदिक साहित्य में पदाति सेना को पत्ति और उसके नायक को पत्तिपति की संज्ञा दी गयी है। वैदिक आर्यों में सेना के इस अधिकारी के प्रति विशेष सम्मान एवं सत्कार प्रदर्शित किया जाता था।[1] एक ही श्रेणी के कुछ योद्धाओं की टोली को गण की संज्ञा दी गयी है। गण का भी एक मुखिया होता था जिसे गणपति की उपाधि से विभूषित किया जाता था।[2] पत्ति, पत्तिपति, गण, गणपति आदि के वास्तविक स्वरूप वैदिक युग में क्या रहे होंगे, स्पष्ट नही है। महाभारत के आदिपर्व में सेना संगठन का वर्णन करते हुए पत्ति और गण के लक्षण स्पष्ट बतलाये गये हैं। इस प्रसंग में एक रथ, एक हाथी, तीन अश्वारोही और पाँच पैदल सैनिकों की संयुक्त टुकड़ी को पत्ति की संज्ञा दी गयी है।[3] तीन पत्तियों का एक सेनामुख, तीन सेनामुखों का एक गुल्म और तीन गुल्मों का एक गण बतलाया गया है।[4] परन्तु वैदिक सेना का संगठन चतुरंगिणी सेना के रूप में नही हो सका था। अतः वेदों में पत्ति शब्द मिश्रित सेना की टुकड़ी के लिए प्रयुक्त हुआ हो; यह सम्भव नही। इसलिए वैदिक पत्ति और महाभारत की पत्ति में अन्तर है। महाभारत में पत्ति मिश्रित सेना की सबसे छोटी टुकड़ी है; परन्तु वैदिक युग में पत्ति का पयोग पैदल सेना अथवा उसकी टुकड़ी मात्र के लिए किया जाता था। इसी प्रकार महाभारत के गण और वैदिक गण में भी अन्तर है। वैदिक युग में गण मिश्रित सेना की एक टुकड़ी के लिए प्रयुक्त होता हो; यह स्पष्ट नहीं है। वह समान श्रेणी के योद्धाओं की एक विशेष टुकड़ी के लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। महाभारत के इसी प्रसंग में वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी आदि सेना के विशेष संगठनों के भी लक्षण दिये गये हैं। वैदिक संहिताओं में भी विविध प्रकार की सेना को उसके विशेष संगठन एवं स्वरूप के आधार पर वाहिनी, पृतना, चमू, अनीक आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। परन्तु वैदिक संहिताओं में उल्लिखित सेना के इन भेद-प्रभेदों तथा महाभारत की सेना के भेद-प्रभेदों में सामंजस्य नही है। इसके अतिरिक्त वैदिक युग मे इन शब्दों का प्रयोग किस प्रकार की सेना के लिए हुआ है, स्पष्ट नही है।

रथसेना

वैदिक युग में रथसेना महत्त्वपूर्ण एवं परमोपयोगी तथा सर्वश्रेष्ठ समझी जाती

१. १९।१६ यजुर्वेद। २. १५।११ यजुर्वेद। ३. १९।१ आदि पर्व, महाभारत।
४. १९ से २२ तक ।१ आदि पर्व, महाभारत।

थी। वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें रथ-सेना को प्रोत्साहित किया गया है। इन प्रसंगों में यजुर्वेद के एक मंत्र में रथ-सेना को प्रोत्साहित करने के लिए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—हे बृहस्पति! शत्रु-नाश हेतु तू रथ द्वारा निर्बाध सर्वत्र गमन कर।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद के एक मंत्र में भी यही भाव व्यक्त किये गये हैं—जिनके हाथ में (रथ में जुते हुए) बलवान् अश्व हैं और जो विजय-घोष कर रहे हैं, ऐसे रथारोही वीर रथ द्वारा (रणस्थल में) इधर-उधर भ्रमण कर रहे हैं। इन रथों में जुते हुए अश्व अपने खुरों से शत्रु-सेना को कुचल रहे हैं।[2]

रथ में सामान्यतया दो अश्व जोते जाते थे। इन्द्र का रथ दो अश्व वहन करते थे।[3] परन्तु किन्हीं रथों में अश्व के स्थान में रासभ भी जोते जाते थे। ऋग्वेद के अनुसार अश्विनीकुमारों के रथ में रासभ जोते जाते थे।[4] सामान्यतया रथ में दो पहिये होते थे जिन्हें वेदों में चक्र नाम से सम्बोधित किया गया है।[5] परन्तु कुछ रथों में दो से अधिक चक्र भी होते थे। अश्विनीकुमारों के रथ में तीन चक्र थे।[6] साधारणतया रथ में बैठकर एक वीर योद्धा युद्ध करता था जिसे रथी कहते थे। इस प्रकार सामान्य रथों मे बैठने के दो विशेष आसनों का प्रबन्ध किया जाता था। रथ के अग्र भाग में चालक का आसन होता था। इस प्रकार एक आसन योद्धा के लिए और दूसरा रथ चालक के लिए होता था। परन्तु कुछ विशेष रथ भी होते थे जिनमें दो से अधिक आसनों का आयोजन रहता था। अश्विनीकुमारों के रथ में तीन पुरुषों के आसनों का आयोजन था।[7] दो आसन अश्विनी कुमारों (दो) के बैठने के लिए और तीसरा चालक के लिए था। रथ द्रुत गति से गमन करते थे।[8] रथ के चक्र की नाभि को नेमि और उसके अरों का अरा कहते थे।[8] अरा चक्र की नेमि को चक्र की परिधि से संयुक्त करते थे। इस प्रकार चक्र के मुख्य तीन भाग होते थे जो नेमि, अरा और परिधि कहलाते थे। वैदिक युग में रथ-चक्र काष्ठ के एक ही कुन्दा से बनाया जाता था, उसमें नेमि, अरा और परिधि पृथक् नहीं होती थी, यह मत तथ्यहीन है। चक्र में नेमि और परिधि पृथक् अंग होते थे, जिनके संयोग से उसका निर्माण होता था। रथ-चक्र जिस कीली पर घूमता था उसे अक्ष कहते थे। अक्ष चक्र की

१. ३६।१७ यजुर्वेद। २. ७।७५।६ ऋग्वेद। ३. १।८२।१ ऋग्वेद।
४. ७।८५।८ ऋग्वेद। ५. १।१८३।१ ऋग्वेद। ६. १।१८३।१ ऋग्वेद।
७. १।१८३।१ ऋग्वेद। ८. ९।१४१।१ ऋग्वेद।

नाभि में डाला जाता था। इसी अक्ष का आश्रय लेकर चक्र घूमता था और इस प्रकार रथ गमन करता था। रथों का निर्माण किया जाय, ऋग्वेद में इस ओर संकेत किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गयी है कि रथ निर्माण करने में कुशल कारीगर रथ का निर्माण करें।[१] रथ-निर्माण कर्ता को वेदों में रथकार नाम से सम्बोधित किया गया है।[२] रथ के जुआ को (जिसमें अश्व योजित किये जाते थे) धुरी कहते थे।[३] ऋग्वेद में रथ की व्याख्या करते हुए इस प्रकार भाव व्यक्त किये गये हैं—युद्ध के जिस यान में खाद्य सामग्री, आयुध और कवच रखे जाते हैं उसका नाम रथवाहन है।[४] सौन्दर्य की दृष्टि से रथ विविध प्रकार के होते थे। कुछ रथ सोने के समान द्युतिमान् होते थे जिन्हे हिरण्यरथ के नाम से सम्बोधित किया गया है।[५] कुछ रथ विशेष सुन्दर होते थे जिन्हें सुरथ कहा गया है।[६] कुछ रथ विशेष सुखदायी होते थे जिन्हें ऋग्वेद में सुखं रथम् कहकर सम्बोधित किया गया है।[७]

वेदों में रथचालक को सारथि की उपाधि दी गयी है। रथ में जोते गये अश्वों को सारथि चाबुक से हाँकता था। इस चाबुक को वैदिक भाषा में कशा कहा गया है।[८] सारथि अश्वों की रासों को (रश्मीन्) हाथ में पकड़ता था और इनके द्वारा अश्वों का नियमन करता था।[९] ऋग्वेद के एक मंत्र में सारथि के विषय में इस प्रकार वर्णन किया गया है—रथ में बैठा हुआ कुशल सारथि अपनी इच्छानुसार अश्वों को आगे ले जाता है और अश्वों की रासों के द्वारा (रश्मयः) इच्छानुसार ही उनका निग्रह करता है। अतः सब ओर से अश्वों को शीघ्र नियंत्रण करने वाली रासों की स्तुति करनी चाहिए।[१०]

रथ में आसीन वीर योद्धा रणस्थल में युद्ध करता था। इस योद्धा को रथी की उपाधि दी गयी है।[११] युद्ध-कौशल की दक्षता के आधार पर ये वीर योद्धा गण तीन श्रेणियों में विभक्त किये जाते थे, योद्धाओं की तीन श्रेणियाँ रथी, रथीतर और रथीतम के अन्तर्गत परिगणित थीं। इनमें जो योद्धा सामान्य श्रेणी के होते थे, रथी

१. ३।२४।६ ऋग्वेद। १।१११।१ ऋग्वेद। २. ६।३० यजुर्वेद। २७।१६ यजुर्वेद। ३. ६।५६।५ ऋग्वेद। ४. ८।७५।६ ऋग्वेद। ५. ४।३३।८ ऋग्वेद। ६. २।२२।१ ऋग्वेद। ७. ३।२०।१ ऋग्वेद। ८. १७।१६२।१ ऋग्वेद। ९. ३।१४।१ ऋग्वेद। १०. ६।७५।६ ऋग्वेद। ११. ३।७७।१ ऋग्वेद।

कहलाते थे। मध्यम श्रेणी के इन योद्धाओं को रथीतर और उत्तम श्रेणी के योद्धाओं को रथीतम श्रेणी में स्थान दिया जाता था।[1] ऋग्वेद में कपर्दी (रुद्र) को रथीतम की उपाधि दी गयी है।[2] यजुर्वेद में भी रथारोही योद्धाओं को सामान्य रीति से रथी की उपाधि दी गयी है।[3] सर्वश्रेष्ठ रथी को रथीतम की उपाधि से विभूषित किया गया है। इसी आधार पर इन्द्र को रथीतम की उपाधि प्रदान की गयी थी।[4] इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि रथारोही योद्धाओं की तीन श्रेणियाँ थीं जो उनके युद्ध-कौशल की क्षमता के आधार पर इन तीन श्रेणियों में विभक्त थीं। परन्तु वैदिक साहित्य में यह कहीं भी उल्लिखित नहीं है कि इन श्रेणियों के निर्धारण हेतु किस मापदण्ड का आश्रय लिया जाता था। रथी, रथीतर और रथीतम के विशेष लक्षणों का उल्लेख न होने के कारण उनके वास्तविक स्वरूप का बोध होना नितान्त असम्भव है।

नारी-सेना

ऋग्वेद में एक ऐसा प्रसंग है जिसमें नारी-सेना की ओर संकेत किया गया है। नमुचि नाम के अनार्य राजा ने इन्द्र के विरुद्ध युद्ध करने के लिए नारियों को भी आयुध धारण कराये थे।[5] इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में अनार्य राज्यों में नारियाँ भी सेना में भर्ती की जाती थीं। इन्द्र ने नारी-सेना को अबला सेना की संज्ञा दी है।[6] इन्द्र ने यह नियम बनाया था कि जो पुरुष नारियों के विरुद्ध पुरुषों को युद्ध हेतु भेजता है, वह (इन्द्र) उस पुरुष की धन-सम्पत्ति बिना युद्ध किये ही हरण कर अपने भक्तों को दे जाय।[7] इन्द्र की इस घोषणा के आधार पर यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य नारी-सेना रखने के पक्ष में न थे। परन्तु अनार्य राज्यों में अवसर आने पर आवश्यकतानुसार नारियों को भी सेना में भर्ती किया जाता था और उन्हें युद्ध में भी भाग लेना पड़ता था।

सेना के कतिपय अधिकारी

युद्ध करने वाले सैनिक को वेदों में योधी की संज्ञा दी गयी है।[8] ऋग्वेद में

१. ६।८७।१ ऋग्वेद। ३।२५।१ ऋग्वेद। २।१८२।१ ऋग्वेद।
२. २।५५।६ ऋग्वेद। ३. २६।१६ यजुर्वेद। ४. ६।१।१५ यजुर्वेद।
५. ९।३०।५ ऋग्वेद। ६. ९।३०।५ ऋग्वेद। ७. १०।२७।१० ऋग्वेद।
८. ५।१७३।१ ऋग्वेद।

सैनिकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जिन्हें शूर, भीरु और धावत् की उपाधि दी गयी है।[१] रणस्थल से मुख न मोड़ने वाले वीर योद्धा को शूर की उपाधि से विभूषित किया जाता था। कायर सैनिक को भीरु और रणस्थल से भाग जाने वाले सैनिक को धावत् कहकर सम्बोधित किया जाता था। इसी प्रकार रणस्थल में प्रतीचः, पराचः और अश्वः नाम से भी सैनिक सम्बोधित किये गये हैं।[२] युद्ध में संलग्न योद्धाओं को प्रतीचः, रणस्थल से भाग जाने वालों को पराचः और शत्रु का पीछा करने वालों को अश्वः की संज्ञा दी गयी है।

समान श्रेणी के कुछ सैनिकों को गण और उसके मुखिया को गणपति की उपाधि दी गयी है।[३] पैदल सेना को पत्ति और उसके नायक को पत्तिपति के नाम से सम्बोधित किया गया है।[४] सेनापति को सेनानी की संज्ञा दी गयी है।[५] देवों ने इन्द्र को अपनी सेना का नेता बनाया था।[६] इससे स्पष्ट है कि वेदों में सेनानी और सेनानेता दोनों शब्द एक ही पद के लिए प्रयुक्त हुए हैं। युद्ध-सामग्री का संग्रह करने वाला व्यक्ति सगृहीता नाम से सम्बोधित किया गया है।[७] इसका एक मात्र कर्त्तव्य बाण, हेति, प्रहेति आदि युद्ध सामग्री, जो प्रयुक्त होकर रणस्थल में बिखर जाती थी, उसको एकत्र कर संग्रह करना था।

इन सैनिक अधिकारियों के अतिरिक्त सेना के कतिपय अन्य अधिकारियों की ओर भी वेदों में संकेत किये गये हैं। ये अधिकारी आशापाल, शतानीक, सहस्रिन्, सूत, गणक आदि हैं।[८] सेना के गमन-काल में सेना के आगे-आगे एक विशेष पदाधिकारी चलता था। इसी प्रकार सेना के पृष्ठ में एक अन्य विशेष पदाधिकारी गमन करता था। सेना के दक्षिण और वाम पक्ष में भी पृथक्-पृथक् सेना के पदाधिकारी रहते थे। ऋग्वेद में देवसेना के युद्ध हेतु प्रस्थान की ओर संकेत किया गया है, जो इस प्रकार है—इन्द्र देवसेना के सेनापति हैं। बृहस्पति सेना की दाहिनी ओर रहें।

१. ५।१७३।१ ऋग्वेद। २. ६।३०।३ ऋग्वेद। ३. २५।१७ यजुर्वेद।
४. १९।१६ यजुर्वेद। ५. २६।१६ यजुर्वेद। ६. ४०।१७ यजुर्वेद।
७. २६।१६ यजुर्वेद। ८. १९।२२ यजुर्वेद। १९।२२ यजुर्वेद।
५२।३४ यजुर्वेद। २१।१५ यजुर्वेद। १८।१६ यजुर्वेद।
२०।३० यजुर्वेद।

यज्ञोपयोगी सोम उस सेना के अग्रभाग में रहें। मरुद्गण शत्रु-भयकर्त्री और विजयिनी देवसेना के आगे-आगे गमन करें।'

यजुर्वेद के एक मंत्र में इस ओर संकेत किया गया है कि सेना-नायक के साथ उसका पुरोहित भी रहता था।' परन्तु इतने मात्र से इस पुरोहित के वास्तविक स्वरूप का बोध होना सम्भव नही है।

इस प्रकार, उपर्युक्त सामग्री के आधार पर वैदिक सेना के स्वरूप एवं संगठन के विषय में संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है। इस परिचय से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों ने आत्मरक्षा हेतु राज्य में सेना का होना आवश्यक समझा था। उन्होंने अपने राज्य में सेना निर्माण किया था और समयानुसार उसे संगठित एवं सुसज्जित भी किया था। उन्होंने अपनी इसी सेना द्वारा शत्रु से अपनी रक्षा की थी और उसके द्वारा अपने शत्रुओं से अनेक युद्ध किये थे जिनमें उन्हें विजय प्राप्त हुई थी।

आयुध

वैदिक आयुधों के प्रकार

वैदिक आर्य युद्ध में विविध प्रकार के आयुधों का उपयोग करते थे। इन आयुधों का उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त है। वेदों के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य अस्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार के आयुधों का प्रयोग करते थे। इनके अतिरिक्त युद्ध काल में अंगरक्षक आयुधो का भी उपयोग होता था। अंगरक्षक आयुध युद्ध के अवसर पर रणभूमि में योद्धा के विविध अंगो, विशेष रूप में मार्मिक अंगों की रक्षा करते थे। इन सभी प्रकार के आयुधों का संक्षिप्त परिचय, जैसा वैदिक संहिताओं में प्राप्त है, नीचे दिया जाता है।

धनुष

वैदिक युग का परम उपयोगी एवं विशेष प्रचलित आयुध धनुष था। वैदिक आर्य धनुष-बाण का विशेष उपयोग करते थे। उस युग के आर्यों का यह परम प्रिय एवं परम उपयोगी आयुध माना गया है। एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में, जिसे कुछ लोग वैदिक आर्यों का राष्ट्रगान भी कहते हैं, अनेक कामनाओं की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। इन कामनाओं में एक कामना यह भी व्यक्त की गयी है कि उनके वीर योद्धा बाण'

१. ३४।१६ यजुर्वेद। २. ३४।१६ यजुर्वेद।

चलाने में कुशल हों।[१] इस प्रसंग से स्पष्ट है कि वैदिक आर्य आत्मरक्षा एवं शत्रु की पराजय के निमित्त धनुष-बाण के आश्रय पर विशेष आस्था रखते थे।

वेदों में धनुष का गुण-गान इस प्रकार व्यक्त किया गया है—धनुष के द्वारा भूमि पर अधिकार और संग्राम में विजय प्राप्त करनी चाहिए। धनुष के द्वारा ही भयंकर संग्रामों में उल्लासपूर्वक विजय प्राप्त करनी चाहिए। धनुष शत्रु की कामनाओं को विफल करता है। धनुष के द्वारा समस्त दिशाओं-प्रदिशाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।[२] इस प्रकार वेदों में धनुष परम उपयोगी आयुध बतलाया गया है। रुद्र के धनुष को पिनाक नाम से सम्बोधित किया गया है।[३] इस धनुष को धारण कर रुद्र ने अनेक युद्ध किये थे।

धनुष के आकार-प्रकार का बोध कराने के लिए वैदिक साहित्य में प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव होने के कारण इस विषय में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। अनुमान किया जाता है कि उस युग के धनुष का आकार विशाल होता होगा। मौर्य युग के राजशास्त्रप्रणेता कौटिल्य ने धनुष की लम्बाई पाँच हाथ मानी है।[४] यह भी अनुमान किया जाता है कि वैदिक युग के धनुष का निर्माण बाँस अथवा अन्य किसी प्रकार के उपयुक्त काष्ठ को झुकाकर उसके दोनों अंत्यों को दृढ़ डोरी से बाँधकर किया जाता था। धनुष की इसी डोरी का आश्रय लेकर बाण चलाया जाता था। धनुष की डोरी को बलपूर्वक कान तक खींचकर बाण फेंका जाता था। इसीलिए वेदों में कान को धनुष की डोरी का प्रिय सखा कहकर सम्बोधित किया गया है।[५] इस विषय में यजुर्वेद में युद्ध के एक प्रसंग में इस प्रकार वर्णन पाया जाता है—हे तेजस्वी रुद्र! तेरे हाथ में जो बाण हैं उन्हें धनुष के दोनों अंत्यों से बंधी डोरी पर रखकर बलपूर्वक फेंक और तेरे शत्रुओं ने जो बाण तेरे ऊपर छोड़े हैं उन्हें नष्ट कर दे।[६]

वेदों में धनुष की डोरी को ज्या और धनुष के दोनों सिरों को अंत्य नाम से सम्बोधित किया गया है।[७] वेदों में ज्या की महिमा के वर्णन अति रोचक और सजीव हैं। इन वर्णनों के कुछ अंश इस प्रकार हैं—धनुष की डोरी (ज्या) संग्राम सागर में

१. २२।२२ यजुर्वेद। २. २।७५।६ ऋग्वेद। ३. ५१।१६ यजुर्वेद।
४. ६।५।१० अर्थशास्त्र। ६१।३ यजुर्वेद। ५. ३।७५।६ ऋग्वेद।
६. ९।१६ यजुर्वेद। ७. १४।५३।३ ऋग्वेद। ३।१६६।१० ऋग्वेद।

तैरती हुई अथवा उसे पार करती हुई, अपने प्रिय सखा कान का आलिंगन करती हुई, उससे कुछ कहती हुई स्त्री के समान, शब्द करती हुई, जैसे कि एक मन वाली दो स्त्रियाँ माता के समान पुत्र को अपने समीप विशेष आश्रय में धारण करती हैं, तथा वे परस्पर सहयोगिनी होकर शत्रुओं को कम्पायमान करती हुई उनका वेधन करती हुई दूर भागती हैं।[1] धनुष की ज्या का निर्माण ज्या-कला-विशेषज्ञों द्वारा होता था। ज्या-विशेषज्ञ ज्या-निर्माण-व्यवसाय धारण करते थे। यजुर्वेद में ज्या-निर्माण करने वाले विशेषज्ञों को 'ज्याकार' नाम से सम्बोधित किया गया है।[2] ज्या का निर्माण किस पदार्थ से किया जाता था, इस विषय में भी वेदों में संकेत किया गया है। इस संकेत के आधार पर ज्ञात होता है कि ज्या का निर्माण गाय की स्नायु से निर्मित तांत से किया जाता था।[3]

धनुष का आविष्कार सर्व-प्रथम कब, कहाँ और किसने किया ? इन प्रश्नों के समाधान हेतु उत्तर मिलना असम्भव है। इन प्रश्नों के उत्तर हेतु प्रामाणिक सामग्री की खोज अभी तक हो नही पायी है। सिन्धु नदी की घाटी में जिस ऐतिहासिक सामग्री की प्राप्ति हुई है उसमें तांबे और पीतल के शल्यमुख (Arrow-heads) भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि ईसा से तीन अथवा चार सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धु नदी की घाटी के निवासी धनुष-बाण का उपयोग करते थे। परन्तु उस युग में धनुष का आकार-प्रकार एवं स्वरूप क्या था, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वैदिक युग के उपरान्त बहुत समय तक युद्ध के लिए धनुष परम उपयोगी आयुध समझा जाता रहा। मौर्य युग के उदय काल से मुगल सम्राट् बाबर द्वारा भारत विजय काल तक धनुष को परम उपयोगी आयुध समझा गया था। भारत में बन्दूकों के आ जाने से धनुष की उपयोगिता कम हो गयी। इस प्रकार शनैः-शनैः धनुष युद्ध के आयुधों से पृथक् कर दिया गया।

बाण

वेदों में बाण को इषु, शल्य, शर, सायक आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।[4] विशेष नुकीले बाण को वैदिक साहित्य में शल्य की संज्ञा दी गयी है। शल्य

१. ४।७५।६ ऋग्वेद। २. ४८।२९ यजुर्वेद। ३. ११।७५।६ ऋग्वेद। ४८।२९ देखिए उव्वट-महीधर यजुर्वेदभाष्य। ४. ११।७५।६ ऋग्वेद। ४।८७।१० ऋग्वेद। १०।३३।२ ऋग्वेद। ११७७।७५।६ ऋग्वेद। १ से ५।३।१ अथर्ववेद।

के अग्रभाग को शल्यमुख, और शल्यमुख के अग्रभाग में जो नुकीला भाग होता था उसे शल्यदन्त कहा गया है। बाण का यह नुकीला अग्रभाग शत्रु के शरीर का वेधन करता था। शल्य के इन अग्रभागों से सुरक्षित रहने के लिए वेदों में प्रार्थनाएँ की गयी है। इन प्रार्थनाओं का कुछ अंश इस प्रकार है—हे अनेक तूणीरधारी इन्द्र! धनुष का विस्तार कर बाणों के अग्रभागों को (शल्याना मुख्यः) निकाल कर हमारे लिए प्रसन्न मन वाले मंगलकारी होओ।[१] शल्य के अग्रभाग का नुकीला दन्त अस्थि, लोहे अथवा ऐसे किसी कठोर पदार्थ से बनाया जाता होगा। बाण में पक्षी के पर लगाने का भी चलन था। सम्भवतः इसीलिए बाण को 'सुपर्ण' नाम से सम्बोधित किया गया है।[२] वेदों मे उस बाण को सुपर्ण नाम से सम्बोधित किया गया है जिसमें सुपर्ण (श्येन) पक्षी का पंख लगा रहता था। यह कार्य बाण को द्रुतगामी बनाने के लिए किया जाता होगा। वेदों मे बाणों के चलाने, उनके द्वारा शत्रु के शरीरों के वेधन करने, शत्रु पर बाण-वर्षा करने आदि आदि के बड़े रोचक एवं सजीव वर्णन हैं। इनका एक उदाहरण इस प्रकार है—बाण का नुकीला अग्रभाग वेध्य प्राणी की खोज करने वाला होता है। तांत की डोरी से प्रेरित (छोड़ा गया) बाण गिरता है, जहाँ मनुष्य विशेष प्रकार से इधर-उधर दौड़ते हैं, वहाँ हमारे लिए सुख प्रदान करे।[३] हे सीधी गति वाले बाण, हमें बचा जा अथवा हमें सब ओर से दूर रख। हमारे शरीर पत्थरवत् हो जायँ; सोम साहस दे; पृथिवी हमारे लिए सुख प्रदान करे।[४]

ऋग्वेद मे बाण को कर्णयोनि की उपाधि से सुशोभित किया गया है।[५] इससे स्पष्ट है कि धनुष की ज्या पर बाण रखकर उसे बाण सहित कान तक खींचकर छोड़ा जाना था।[६] ऋग्वेद में इस ओर संकेत किया गया है कि वैदिक युग में शत्रु-वध हेतु विष बुझे बाणो का भी उपयोग किया जाता था।[७] अथर्ववेद में भी इस तथ्य की पुष्टि की गयी है।[८]

धनुष और बाण के निर्माण-कार्य-कुशल शिल्पी उनके निर्माण सम्बन्धी व्यवसाय को धारण किये हुए थे। वैदिक आर्यों में अनेक पुरुष इस व्यवसाय को धारण कर अपनी

१. १३।१६ यजुर्वेद। २. ११।७५।६ ऋग्वेद। ३. ११।७५।६ ऋग्वेद।
४. १२।७५।६ ऋग्वेद। ५. ८।२४।२ ऋग्वेद। ६. १६।११७।१ ऋग्वेद।
७. ५।६।४ अथर्ववेद। ६।६।४ अथर्ववेद। ८. ७।३० यजुर्वेद।

जीविका चलाते थे। वेदों में बाण-निर्माण करने वाले शिल्पी को इषुकार और धनुष निर्माण करने वाले को धनुषकार नाम से सम्बोधित किया गया है।

तूणीर

युद्ध-काल में योद्धाओं को बाण रखने की सुविधा हेतु एक विशेष प्रकार के खोल का निर्माण किया गया था। वेदों में इस खोल को तूणीर अथवा इषुधि की संज्ञा दी गयी है। योद्धा तूणीर को अपनी पीठ पर बाँधकर लटकाये रहते थे, जिससे वे सुविधापूर्वक उसमें बाण रख सकते थे और आवश्यकतानुसार उससे बाण निकाल सकते थे। वेदों में इस तथ्य की पुष्टि में संकेत किये गये हैं। इन संकेतों में एक सकेत इस प्रकार है—पीठ पर दृढ़ता से बँधा हुआ (पृष्ठे निबद्धः) तूणीर (इषुधिः) विजय प्राप्त करता है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में तूणीर का अति रोचक एवं सजीव वर्णन मिलता है। इसका एक नमूना इस प्रकार है—अनेक पुत्र वाले पिता के समान तूणीर संग्राम में पहुँच कर "चि-चि" शब्द करता है और पीठ पर बँधा हुआ तूणीर संघीभूत अथवा बिखरी हुई सम्पूर्ण सेना को प्रेरित करता हुआ विजय प्राप्त करता है।[1]

वज्र

धनुष-बाण के अतिरिक्त आर्यों का राजा इन्द्र एक विशेष अस्त्र का उपयोग करता था। वेदों में इस अस्त्र को वज्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। इन्द्र ने अपने बलवान् एवं भयंकर शत्रु वृत्र का वध इसी अस्त्र के द्वारा किया था। वह इन्द्र का अपना विशेष आयुध था। इसीलिए इन्द्र को वेदों में वज्रिन्, वज्रवात् आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।[2] वज्र लोहे (आयस) से निर्मित होता था, ऐसा वेदों में उल्लिखित है।[3] ऋग्वेद के अनुसार त्वष्टा ने लोहे का वज्र बनाया था।[4] ऋग्वेद के एक अन्य स्थल पर यह भी बतलाया गया है कि इन्द्र ने वृत्र नाम के असुर का वध करने के लिए दधीचि की अस्थियों से वज्र का निर्माण किया था। त्वष्टा द्वारा निर्मित वज्र स्वर्ण के समान प्रकाशमान बतलाया गया है।[5]

इन्द्र के वज्र का वास्तविक स्वरूप क्या था, स्पष्ट नहीं है। वैदिक युग के उपरान्त बहुत समय व्यतीत हो जाने पर मूर्तियों का जो विशेष रूप में निर्माण हुआ है, इन

१. ५।७५।६ ऋग्वेद। २. ५।७५।६ ऋग्वेद। ३. ५।६३।१ ऋग्वेद। ६।१०३।१० ऋग्वेद। १२।८०।१ ऋग्वेद। ३।३०।२० अथर्ववेद।
४. ३।४८।१० ऋग्वेद। ५. १३।८४।१ ऋग्वेद।

मूर्तियों में किन्हीं को वज्रायुध से भी विभूषित किया गया है। इन मूर्तियों में वज्र का जो आकार-प्रकार पाया जाता है, वह वैदिक युग के वज्र से कहाँ तक समानता रखता है, इस विषय में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता। कतिपय विद्वानों का मत है कि वेदों के इन प्रसंगों में इन्द्र सूर्य है, वृत्र मेघ और वज्र विद्युत है। इस प्रकार इन विद्वानों के मतानुसार विद्युत स्वरूप तीक्ष्ण एवं उग्र आयुध को वज्र मानना उचित होगा। वैदिक युग के समाप्त हो जाने पर वज्रायुध लोक से लुप्त हो गया। वह केवल कतिपय देवताओं का नाम को आयुध मात्र रह गया।

सृक

सृक नाम के आयुध का भी वेदों में उल्लेख है। निघण्टु में सृक को वज्र कोटि में परिगणित किया गया है।[१] इस आधार पर सृक आयुध विशेष प्रकार का वज्र ही होता होगा। वेदों में सृक रुद्र का विशेष आयुध बतलाया गया है।[२] आर्यों का राजा इन्द्र भी इस आयुध का उपयोग करता था।[३] इस प्रकार सृक नाम का वैदिक आयुध वज्र के समान ही एक विशेष आयुध रहा होगा। सृक के आकार-प्रकार के विषय में भी सप्रमाण कुछ कहा नहीं जा सकता। वैदिक युग के समाप्त हो जाने के उपरान्त वज्र के समान ही सृक भी लोक से लुप्त हो गया।

हेति

हेति नाम का एक विशेष अस्त्र होता था। इन्द्र हेति का भी उपयोग करता था।[४] निघण्टु ने हेति को भी वज्र का ही एक प्रकार माना है।[५] हेति भी इस प्रकार वज्र के समान ही घातक आयुध था। यजुर्वेद के एक मंत्र में हेति का सम्बन्ध धनुष से जोड़ा गया है।[६] इससे ज्ञात होता है कि हेति भी बाण के समान धनुष की डोरी का आश्रय लेकर शत्रु पर फेंका जाता था। आचार्य उव्वट ने यजुर्वेद के उस मंत्र की व्याख्या करते हुए हेति शब्द को इसी रूप में स्पष्ट किया है।[७] वेदों में हेति का जो वर्णन दिया हुआ है उसमें यह स्पष्ट बतलाया गया है कि हेति देवों का आयुध था और जिसका उपयोग इन्द्र, सोम, वरुण, बृहस्पति आदि देव विशेष रूप में किया

१. ९।८५।१ ऋग्वेद। २. सृकम् इति वज्रनाम(२।२०)निघण्टु।
३. २१।१६ यजुर्वेद। ४. १२।३२।१ ऋग्वेद। ७।१८ यजुर्वेद।
५. ३।१०३।१ ऋग्वेद। ६. २।२० निघण्टु। ७. १२।१६ यजुर्वेद।
यही उव्वट महीधर भाष्य, यजुर्वेद।

करते थे।[1] वैदिक युग के उपरान्त वज्र और सृक के समान ही इस आयुध का उपयोग समाप्त हो गया। हेति के आकार-प्रकार एवं स्वरूप के विषय में सप्रमाण कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

प्रहेति

वेदों में हेति के समान ही प्रहेति को भी विशेष आयुध बतलाया गया है।[2] प्रहेति हेति आयुध का ही एक विशेष प्रकार जान पड़ता है। आचार्य उव्वट एवं महीधर ने यजुर्वेद के अपने भाष्य में प्रहेति को प्रकृष्ट आयुध माना है।[3] प्रहेति के स्वरूप एवं उसके आकार-प्रकार के विषय में भी आज हमें कुछ ज्ञात नहीं है। यह आयुध भी वैदिक आयुध माना गया है। वज्र, सृक और हेति के समान ही वैदिक युग के उपरान्त प्रहेति आयुध का लोप हो गया।

पाश

शत्रु को पकड़ने के लिए पाश का विशेष प्रयोग किया जाता था। रस्सी में विशेष प्रकार का फंदा बना कर पाश का निर्माण किया जाता था। इस फंदे में शत्रु को फांस लिया जाता था और पाश की रस्सी से उसे अपने पास खींच लिया जाता था। इस प्रकार पाश द्वारा शत्रु को पकड़ कर उसे बन्दी बना लिया जाता था अथवा उसका वध कर दिया जाता था। वैदिक युग के युद्धों में पाश का विशेष उपयोग किया जाता था।[4] पाश वरुण देव का महत्त्वपूर्ण आयुध बतलाया गया है।[5] अथर्ववेद में भी पाश का वर्णन आयुध रूप में हुआ है।[6] अथर्ववेद में पाश के छः भेद बतलाये गये है। इन्हें साम्य, व्याम्य, संदेश्य, विदेश्य, दैव और मानुष पाश के नाम से सम्बोधित किया गया है।[7] इन विविध प्रकार के पाशों से मुक्त होने के लिए वरुण देव से प्रार्थना की गयी है।[8] इन विविध प्रकार के पाशों का स्वरूप क्या था, स्पष्ट नहीं है। अतः इस विषय पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता। वैदिक युग के उपरान्त पाश भी अनुपयोगी समझा जाने लगा और इस प्रकार शनैः-शनैः लोक ने उसका परित्याग कर दिया।

१. १० से १४।१५ यजुर्वेद। २. १५।१५ यजुर्वेद।
३. १५ से १९।१५ यजुर्वेद। ४. १३।२४।१ ऋग्वेद। २५,२६।१ यजुर्वेद।
५. ७।८८।७ ऋग्वेद। ६. २।१२।२ अथर्ववेद। ७. ८।१६।४ अथर्ववेद।
८. ४।७५।६ ऋग्वेद। २३।८ यजुर्वेद। ८।१०।२ अथर्ववेद

असि

वेदों में असि नाम के शस्त्र का भी उल्लेख है।[1] द्वन्द्व युद्ध में अथवा अति समीप आये हुए शत्रु का वध करने के लिए असि नाम का शस्त्र उपयोगी समझा जाता होगा। सिन्धु नदी की घाटी की खुदाई करने पर जो ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है उसमें किसी रूप में भी असि पायी नहीं गयी है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त घाटी के निवासी असि के प्रयोग से अनभिज्ञ थे। ऋग्वेद में असि का उल्लेख है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि असि का सर्व प्रथम प्रयोग भारत में आर्यों ने किया होगा। वैदिक असि का आकार-प्रकार एवं उसका स्वरूप कैसा था, ज्ञात नहीं है। सम्भवत: आधुनिक तलवार का पूर्व रूप ऋग्वेदीय असि आयुध रहा होगा।

आचार्य कौटिल्य ने असि को खड्ग का एक भेद माना है।[2] उन्होंने असिमूल या खड्गमूल-का भी उल्लेख किया है। उनके समय में खड्गमूल गैंडा अथवा भैंसा के सींग, हाथीदाँत, दृढ़ काष्ठ, बाँस के मूल आदि के बनते थे।[3]

परशु

ऋग्वेद में परशु का उल्लेख आयुध रूप में है।[4] अथर्ववेद में भी परशु का वर्णन युद्ध के आयुधों के वर्णन के साथ है।[5] इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में परशु भी युद्ध के आयुधों में एक आयुध था। इसके अतिरिक्त काट-छाँट के लिए भी परशु का उपयोग होता था। परशु वृक्षों के काटने के लिए भी प्रयोग में लाया जाता था।[6] ऋग्वेद के अनुसार परशु लोहे का होता था।[7] परशु आधुनिक फरसा के समान होता होगा। कौटिल्य ने परशु को क्षुर वर्ग के आयुधों में परिगणित किया है।[8] वैदिक युग के उपरान्त युद्ध हेतु परशु विशेष उपयोगी आयुध समझा जाता था। परशुराम का यह सर्वप्रिय आयुध बतलाया गया है। गुप्त कालीन भारत में युद्ध हेतु इस शस्त्र का विशेष महत्त्व रहा है। इस तथ्य की पुष्टि में उस काल की मुद्राएँ, मूर्तियाँ आदि ज्वलन्त प्रमाण है।[9]

१. १८।८६।१० ऋग्वेद। ४३।२५ यजुर्वेद। ११।९।१ अथर्ववेद।
२. १३।१८।२ अर्थशास्त्र। ३. १४।१८।२ अर्थशास्त्र।
४. ३।१२७।१ ऋग्वेद। ५. ११।९।१ अथर्ववेद। ६. २१।१०४।७ ऋग्वेद।
७. ९।५३।१० ऋग्वेद। ८. १५।१८।२ अर्थशास्त्र।
९. प्लेट सं० ३५, मूर्ति सं० ३७; समुद्रगुप्त की मुद्राएँ (देखिए अलग प्लेट ४, मूर्ति सं० ८ से १६ तक)।

ऋष्टि

ऋग्वेद में ऋष्टि नाम के एक शस्त्र का उल्लेख है।[1] ऋष्टि एक प्रकार का भाला होता था। ऋष्टि भी देवों का आयुध बतलाया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग मे सात प्रकार की ऋष्टियों की ओर संकेत किया गया है।[2] इससे ज्ञात होता है कि ऋष्टि के अनेक प्रकार थे। इसके अतिरिक्त ऋष्टि के विषय में, सूचना रूप में और कुछ सामग्री उपलब्ध नही है।

रम्भिणी

रम्भिणी भी एक प्रकार का भाला होता था।[3] इस शस्त्र के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

वाशी

वाशी नाम का आयुध एक प्रकार का छुरा होता था।[4] इसका उपयोग भी शत्रु के हनन हेतु किया जाता था।

क्षुर

वेदो में क्षुर नाम के शस्त्र का भी उल्लेख है। क्षुर एक प्रकार का चौड़े फाल वाला चाकू होता होगा, जो अपनी तीक्ष्ण धार के लिए प्रसिद्ध था।[5]

शूल

लोहे का नुकीला टुकड़ा शूल कहलाता था। इसका अग्र भाग पतला, नुकीला और तीक्ष्ण होता था।[6] कौटिल्य ने भी शूल को शस्त्र माना है। उनके समय में भी शूल को प्रसिद्ध शस्त्रों में स्थान दिया गया है।[7]

दण्ड

आधुनिक लाठी के स्थान में दण्ड का प्रयोग मार-पीट हेतु होता होगा। वेदों में दण्ड को शस्त्र कोटि में परिगणित किया गया है[8]। आचार्य कौटिल्य ने भी दण्ड को शस्त्रों में स्थान दिया है।[9]

१. ४।१६८।१ ऋग्वेद। २. ५।२८।८ ऋग्वेद। ३. ३।१६८।१ ऋग्वेद।
४. २।५७।५ ऋग्वेद। ५. १६।४।८ ऋग्वेद। ६. ११।१६२।१ ऋग्वेद।
७. ४२।३।२ अर्थशास्त्र। ८. ६।३३।७ ऋग्वेद ४।५।५ अथर्ववेद
९. ४१।३।२ अर्थशास्त्र।

अश्मा

वेदों में पाषाण (अश्मा) को भी आयुध कोटि में परिगणित किया गया है। ऋग्वेद के एक स्थल पर पाषाण द्वारा शत्रु के हनन करने की ओर संकेत किया गया है।[1] एक अन्य प्रसंग में यम को पाषाण फेंकने वाला बतलाया गया है।[2] इसी वेद के एक प्रसंग में पाषाण द्वारा राक्षसों के नष्ट कर देने की याचना की गयी है।[3] अथर्ववेद में भी अश्मा को आयुध श्रेणी में परिगणित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि शत्रु के नाश के लिए अश्मा का भी उपयोग किया जाता था। अथर्ववेद के एक प्रसंग में पाषाण (अश्मा) से सुरक्षित रहने की प्रार्थना की गयी है।[4] दूसरे प्रसंग में पाषाणों से शत्रु का वध कर देने का आदेश दिया गया है।[5] इन संकेतों से स्पष्ट है कि वैदिक युद्धों में पाषाणों का भी उपयोग आयुध रूप में किया जाता था। शत्रु के नाश हेतु उस पर पाषाणों की वर्षा कर उसे आहत किया जाता था।

मौर्य काल में भी पाषाणों का उपयोग शत्रुनाश हेतु किया जाता था। आचार्य कौटिल्य ने अपने समय के विविध आयुधों का उल्लेख किया है। इन आयुधों में पाषाण को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[6]

अंगरक्षक आयुध

संग्राम में अस्त्र-शस्त्रों से योद्धा की शरीर-रक्षा हेतु कतिपय अंगरक्षक आयुधों का निर्माण वैदिक युग में हो चुका था। इन अंग-रक्षक आयुधों का उल्लेख वेदों में पाया जाता है। अंग-रक्षक आयुध विविध प्रकार के बतलाये गये हैं। इन आयुधों द्वारा वैदिक योद्धा अपने शरीर के विभिन्न अंगों, विशेष रूप से मर्मस्थलों की रक्षा करते थे। इनमें मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण आयुध इस प्रसंग में दिये जाते हैं।

बिल्म

सिर की रक्षा हेतु शिरस्त्राण का उपयोग किया जाता था। इस शिरस्त्राण को बिल्म की संज्ञा दी गयी है।[7] आचार्य कौटिल्य ने भी बिल्म को शिरस्त्राण माना है।[8]

१. ५।१०४।७ ऋग्वेद। २. २।१७२।१ ऋग्वेद। ३. १७।१०४।७ ऋग्वेद।
४. १।२६।१ अथर्ववेद। ५. ३२।१।१३ अथर्ववेद। ७।१२।४ अथर्ववेद।
६. ४१।३।२ अर्थशास्त्र। ७. ३५।१६ यजुर्वेद। ८. अर्थशास्त्र।

वर्म तथा कवच

सिर के नीचे शरीर की रक्षा हेतु वर्म तथा कवच का प्रयोग किया जाता था।[१] वर्म विशेष प्रकार का कवच होता था। यह किस प्रकार और किस पदार्थ से बनाया जाता था, स्पष्ट नहीं है। इतना अवश्य स्पष्ट है कि शरीर के मर्मांगों की रक्षा हेतु वर्म का उपयोग किया जाता था।[२] ऋग्वेद के एक प्रसंग में इतना संकेत अवश्य किया गया है कि वर्म गोचर्म का होता था।[३] ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि योद्धा वर्म धारण करने वाले हों[४] यजुर्वेद में प्रसंग वश एक मंत्र में वर्म की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—जब वर्मधारी योद्धा समरभूमि में प्रवेश करता है, मेघ के निकट विद्युत् के समान हो जाता है। पुरोहित युद्ध हेतु प्रस्थान करने वाले अपने यजमान राजा के कल्याण के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है कि वह व्रण रहित, शरीर द्वारा विजय प्राप्त करे। वर्म की महिमा उसकी रक्षा करे।[५]

रुक्म

ऋग्वेद के एक प्रसंग में मरुत देव वीर योद्धा के रूप में वर्णित हैं। इस प्रसंग में कतिपय अंगरक्षक आयुधों से परिवेष्टित मरुत देव दिखलाये गये हैं। इस अवसर पर मरुत देव पैरों में खादि, सिर पर शिप्रा और वक्षस्थल पर रुक्म धारण किये हुए हैं। रुक्म एक प्रकार का वक्ष-त्राण था जिसका निर्माण सम्भवतः लोहे की जंजीरों से होता था।[६]

खादि

खादि विशेष प्रकार का त्राण था। इसका उपयोग योद्धा के हाथ और पाँव की रक्षा हेतु होता था, हाथ की रक्षा हेतु उपयोग में आने वाले खादि को हस्त-खादि,[७] और पैरों की रक्षा हेतु काम में लाये जाने वाले खादि को पत्सु-खादि की संज्ञा दी गयी है।[८]

शिप्रा

एक विशेष प्रकार का शिरस्त्राण शिप्रा कहलाता था। शिप्रा सम्भवतः आधुनिक

१. ६।२७।६ ऋग्वेद। २. १८।७५।६ ऋग्वेद। ३. ७।१६।१० ऋग्वेद।
४. ३।७८।१० ऋग्वेद। ५. १।७५।६ ऋग्वेद। ६. १२।५।५ ऋग्वेद।
७. २।५८।५ ऋग्वेद। ८. ११।५४।५ ऋग्वेद।

युग के झेलम टोप का पूर्व रूप था। यह शिरस्त्राण चमकदार होता था जो स्वर्ण के समान चमका करता था।'[1]

इस प्रकार वैदिक युग में शिप्रि, कवच, वर्म, खादि, रुक्म, शिप्रा आदि अंगरक्षक आयुधों का उपयोग योद्धागण युद्ध काल में किया करते थे, और इन अंगरक्षक आयुधों द्वारा अपने शरीर, विशेष कर मार्मिक अंगों की रक्षा किया करते थे।

उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री से स्पष्ट है कि वैदिक आर्य योद्धा विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों एवं अंगरक्षक आयुधों का उपयोग करते थे। ये आयुध अपने युग के अनुसार उपयोगी थे। इनका आश्रय लेकर उन्होंने शत्रुओं से अपने जीवन, सम्पत्ति, स्वतंत्रता, संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा भली भांति की थी। उन्होंने इन्हीं अस्त्र-शस्त्रों और अंगरक्षक आयुधों का आश्रय लेकर अनेक भयंकर एवं रोमांचकारी युद्ध किये थे, जिनमें वे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में सफल हुए थे।

वैदिक युद्ध

युद्ध की परिभाषा

शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में युद्ध की परिभाषा की गयी है। इस परिभाषा के अनुसार राजन्य के बल-प्रदर्शन को युद्ध की संज्ञा दी गयी है (युद्धं वै राजन्यस्य वीर्यम्)[2]। इसी प्रसंग में राजन्य शब्द की भी व्याख्या की गयी है। इस व्याख्या के अनुसार क्षत्र ही राजन्य है (क्षत्रं वै राजन्यः),[3] अर्थात् क्षात्र बलधारी पुरुष राजन्य कहलाता था।

इस प्रकार वैदिक युग में वीर पुरुषों का वीरता प्रदर्शित करना युद्ध कहलाता था। रणस्थल में वीर पुरुष अपनी वीरता एवं अपना रण-कौशल प्रदर्शित करते थे।

वैदिक युद्ध का स्वरूप

ऋग्वेद में रोमांचकारी युद्धों का वर्णन है। इन युद्धों में वीरता और युद्धकला दोनों का प्रदर्शन होता था। आर्यों के राजा इन्द्र ने शम्बर के एक सौ नगरों को युद्ध में नष्ट कर दिया था।[4] इन्द्र ने एक दूसरे युद्ध में शतसहस्र असुरों को मार गिराया था।[5]

१. ११।५४।५ ऋग्वेद। २. १३।१।५।६ शतपथ ब्राह्मण।
३. १३।६।२।१० शतपथ ब्राह्मण। ४. ६।१४।२ ऋग्वेद।
५. ७।१४।२ ऋग्वेद।

राजा दिवोदास की सहायता करते हुए इन्द्र ने युद्ध में उसके शत्रु शम्बर के निन्यानवे नगरों को ध्वस्त कर दिया था।[1] ऋग्वेद में रुद्र भयंकर युद्ध करते हुए वर्णित हैं।[2] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में रणस्थल में धनुर्धारी योद्धा जय घोष करते हुए दिखलाये गये हैं। इसी प्रसंग में शत्रु-सेना को अश्व अपने खुरों से कुचलते हुए वर्णित हैं।[3] रणभूमि में धनुर्धारी योद्धाओं द्वारा तीव्र गति से छोड़े गये बाणों से रक्षित रहने की प्रार्थना की गयी है।[4] इसी प्रसंग में ऋग्वेद के एक स्थल पर शत्रु सेना को रणभूमि से खदेड़ देने के लिए अपने वीरो को प्रोत्साहित करते हुए सेनानी कहता है—शत्रु-सेना को रणभूमि से दूर खदेड़ दीजिए; अपने सैनिकों को लौटा लीजिए; दुन्दुभि विजय-ध्वनि कर रही है, अपनी सेना रणभूमि में निर्भय होकर निर्विघ्न विचर रही है, अपने महारथी विजयी हुए है।[5] धनुषों की टंकार से रणस्थल गूज रहा है।[6]

ऋग्वेद के एक स्थल में युद्ध का संक्षेप में चित्रण करते हुए प्रार्थना की गयी है जो इस प्रकार है—हे इन्द्र और वरुण देव! जहाँ योद्धा गण ध्वज उठा कर युद्धार्थ मिलते हैं, जिस युद्ध में कुछ भी अनुकूल नही होता और जिसमें प्राणी मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग पहुँचते हैं, ऐसे युद्ध मे तुम दोनों हमारे पक्ष की बात करना।[7] पृथिवी के सम्पूर्ण अन्त सैनिकों द्वारा विनष्ट हो चुके है, सैनिकों का कोलाहल द्युलोक में फैल रहा है, हमारी सेना के सारे शत्रु हमारी शरण ग्रहण कर चुके हैं। हे इन्द्र और वरुण देव! रक्षण के साथ हमारे पास पधारिए।[8] हमें चारों ओर से शत्रु के आयुधों ने घेर लिया है, हिसकों के मध्य हमें शत्रु बाधा पहुँचा रहे हैं। आप दोनों युद्ध काल में हमारी रक्षा कीजिए।[9]

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में भयंकर एवं रोमांचकारी युद्ध होते थे जिनमें जन और धन दोनों का नाश होता था।

वैदिक युद्ध के कुछ प्रकार

वैदिक सैनिक विविध प्रकार से युद्ध करते थे। ऋग्वेद के एक प्रसंग में दो योद्धा परस्पर युद्ध करते हुए दिखलाये गये हैं। इस प्रकार के द्वन्द्व युद्ध को ऋग्वेद में मिथः-

१. ६।१९।२ ऋग्वेद। २. ७।११७।१ ऋग्वेद। ३. ७।७५।६ ऋग्वेद।
४. ११।७५।६ ऋग्वेद। ५. ३१।४७।६ ऋग्वेद। ६. ७।७५।६ ऋग्वेद।
७. २।८३।७ ऋग्वेद। ८. ३।८३।७ ऋग्वेद। ९. ५।८३।७ ऋग्वेद।

युद्ध की संज्ञा दी गयी है।[1] द्वन्द्व युद्ध के अतिरिक्त संहत प्रकार के युद्ध भी होते थे। ऋग्वेद में रथारोही सेना शत्रु की रथारोही सेना से और पैदल सेना शत्रु की पैदल सेना से संहत युद्ध करती हुई वर्णित है। विशाल सेनाएँ शत्रु की विशाल सेनाओं से रणभूमि में युद्ध करती थीं। ऋग्वेद में इस श्रेणी के युद्धों का रोमांचकारी वर्णन अत्र-तत्र प्राप्त है।[2] अथर्ववेद में बाहु-युद्ध की ओर भी संकेत किया गया है।[3] तूष्णीम् युद्ध की ओर भी अथर्ववेद में संकेत मिलता है। इस प्रसंग में ओषधि-प्रयोग द्वारा शत्रु नाश की प्रार्थना की गयी है।[4]

मित्र राजाओं के युद्ध-कालीन संघ

ऋग्वेद में युद्ध काल में मित्र राज्यों के संघीभूत होकर शत्रु से युद्ध करने के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में ऋग्वेद के अन्तर्गत 'दाशराज्ञ युद्ध' ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रसंग में दस राजाओं ने संघीभूत होकर राजा सुदास पर आक्रमण किया था। परन्तु इन्द्र की सहायता से इन संघीभूत दस राजाओं की संगठित शक्ति सुदास को परास्त न कर सकी, अपितु उन्हें ही सुदास ने क्षीण कर दिया था।[5]

इस प्रकार आधुनिक युग में जिस प्रकार मित्र राष्ट्र परस्पर संगठित होकर शत्रु राष्ट्र पर आक्रमण करते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार वैदिक युग में भी मित्र राज्यों के परस्पर संगठित होने और फिर शत्रु राज्य से युद्ध करने के उदाहरण मिलते हैं। इन युद्धों में धन-जन की महान् क्षति होती थी।[6]

संग्राम में वीरगति

वैदिक युग में सैनिकों को विविध प्रकार से प्रोत्साहित किया जाता था। वीरों के लिए युद्धभूमि पुण्यभूमि बतलायी गयी है। रणभूमि में युद्ध करते हुए वीर-गति को प्राप्त होने वाले योद्धा को ऋग्वेद में महान् पुण्य का अधिकारी बतलाया गया है। ऋग्वेद के अनुसार रणभूमि यज्ञभूमि है। सहस्र दक्षिणा युक्त यज्ञ करने वाले यजमान को जो पुण्य फल प्राप्त होता है, उसी महान् फल के भोगने का अधिकारी रणभूमि में युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त योद्धा बतलाया गया है।[7]

१. ३।११९।१ ऋग्वेद। २. ९।७३।१ ऋग्वेद। ३. १।९।११ अथर्ववेद।
४. १।३७।११ अथर्ववेद। ५. ७।८३।७ ऋग्वेद। ६. २।८३।७ ऋग्वेद।
७. १७।२।१८ अथर्ववेद। ३।१५४।१० ऋग्वेद।

युद्ध में माया-प्रयोग

वैदिक युद्धों में आवश्यकतानुसार छल-कपट का भी आश्रय लिया जाता था। वैदिक भाषा में इस प्रकार के छल-कपट को 'माया' की संज्ञा दी गयी है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में इन्द्र को 'मायिन्' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[1] इसी वेद के एक अन्य प्रसंग में माया द्वारा नाना रूप धारण कर इन्द्र युद्ध करते हुए वर्णित है।[2] ऋग्वेद में मरुत देव को भी 'मायिनम्' की उपाधि से सम्बोधित किया गया है।[3] इसी प्रकार वरुण देव को भी इसी उपाधि से विभूषित किया गया है।[4]

युद्ध में माया का भी आश्रय लिया जाता था, इस तथ्य की पुष्टि के लिए अथर्ववेद में स्पष्ट बतलाया गया है कि असुर माया का आश्रय लेकर युद्ध किया करते थे।[5] अथर्ववेद के एक प्रसंग में प्रार्थना की गयी है—हे अग्नि! तुम शत्रु के हृदयों को मोहित कर दो।[6] हे मरुत! तुम शत्रु सेना को अन्धकार से आवृत कर दो, जिससे वे अपने साथियों को पहचान न सकें और एक दूसरे का नाश कर डालें।[7]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक युद्धों में आवश्यकतानुसार माया का प्रयोग किया जाता था।

वैदिक योद्धा का वेश

वेदों में सैनिक की वेश-भूषा की ओर भी कतिपय संकेत पाये जाते हैं। इन संकेतों के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक योद्धा अपने सीस पर पगड़ी बाँधता था। सैनिक वेश में मरुत देव का वर्णन करते हुए उन्हें पगड़ी बाँधे दिखलाया गया है।[8] यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में रुद्र योद्धा रूप में वर्णित हैं। इस प्रसंग में रुद्र पगड़ी धारण किये हुए वर्णित हैं।[9] इससे भी यह स्पष्ट है कि वेदकालीन योद्धा अपने सिर पर पगड़ी धारण करता था। वैदिक सैनिक अपने सिर की रक्षा हेतु आधुनिक हेलमटोप के समान सिर-रक्षक त्राण धारण करता था। ऋग्वेद में उसे शिरस्त्राण की संज्ञा दी गयी है।[10] वह पैरों की रक्षा हेतु पद-त्राण (पत्सु-खादयः), वक्षस्थल

१. १०।११।२ ऋग्वेद। ३।८४।३ ऋग्वेद। २. ८।५३।३ ऋग्वेद।
३. २।५८।५ ऋग्वेद। ४. १४।४८।६ ऋग्वेद। ५. ५।५१।१ ऋग्वेद।
६. २।२।३ अथर्ववेद। ७. ६।२।३ अथर्ववेद। ८. ६।५७।५ ऋग्वेद।
९. २२।१६ यजुर्वेद। १०. ५११।५४ ऋग्वेद।

पर जंजीरे अथवा लौह-पत्र (रुक्म), हाथों में हस्तत्राण धारण करता था। शरीर-रक्षा हेतु वह वर्म अथवा कवच और सिर की रक्षा हेतु शिप्रा धारण करता था।[1] कन्धे पर भाला (ऋष्टिक) रखता था।[2] हाथ में बाण, पीठ पर बाणों से परिपूरित तूणीर, धनुष और कटार धारण करता था।[3] ऋग्वेद के इसी प्रसंग में मरुत-देव सैनिक वेश में इस प्रकार वर्णित हैं—मरुत देव के कन्धों पर चमचमाते हुए भाले, दोनों बाहुओं में कल्याणकारी बल, ओज और साहस, सिर पर चमकदार पगड़ी एवं रथ में आयुध हैं और उनके शरीर से कान्ति स्फुटित हो रही है।[4]

इस प्रकार वैदिक योद्धा सज-धज के साथ उल्लास से परिपूरित होकर युद्ध हेतु रणस्थल की ओर गमन करता था।

युद्ध काल में मादक-द्रव्य प्रयोग

वैदिक आर्यों के मुख्य दो मादक पेय पदार्थ थे। ये दो पेय पदार्थ सोम और सुरा थे। सोम देवों अथवा कुछ विशिष्ट प्रतिष्ठित पुरुषों के उपयोग में आता था। जन-साधारण के उपयोग के लिए सुरा थी। ऋग्वेद में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि आर्यों का राजा इन्द्र सोम पान कर उसके मद में उन्मत्त होकर युद्ध किया करता था।[5] इससे स्पष्ट है कि इन्द्र के सैनिकों को भी युद्ध के अवसर पर सुरापान कराया जाता होगा। सैनिकों को युद्ध हेतु प्रेरित करने के निमित्त उन्हें शौर्यवर्धक सुरापान इस आशा से कराया जाता होगा कि सैनिकों में शौर्य की वृद्धि हो और वे मदमाते होकर शत्रु सेना का संहार करने में सफल हो सकें।

संग्राम में वाद्य प्रयोग

युद्ध काल में सैनिकों को उत्साहित एवं उत्तेजित करना परमावश्यक होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विविध प्रकार के वाद्यों का आश्रय लिया जाना भी एक प्रमुख साधन समझा जाता है। इन वाद्यों की वीर ध्वनि से उत्साहित एवं उत्तेजित होकर सैनिक अपने स्वामी एवं अपने राज्य की रक्षा हेतु अपने प्राणों पर सहर्ष खेल जाता है। वेदों में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि हेतु प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। ऋग्वेद में युद्ध सम्बन्धी कई ऐसे वर्णन हैं जिनमें सैनिकों को उत्साहित एवं उत्तेजित करने के

१. ३५।१६ यजुर्वेद। २. ६।५७।५ ऋग्वेद। ३. २।५७।५ ऋग्वेद।
४. २।५७।५ ऋग्वेद। ५. २।३६।८ ऋग्वेद।

लिए विविध प्रकार के वाद्यों का उपयोग किया गया था। ऋग्वेद में कुछ ऐसे वाद्यों के नाम भी दिये गये हैं। इन वाद्यों में दुंदुभि, शंख, कर्करि और गर्गर मुख्य हैं।

दुन्दुभि

वैदिक युग में दुन्दुभि नाम के वाद्य का विशेष महत्त्व था। ऋग्वेद में दुन्दुभि का विशेष उल्लेख है। उसकी महिमा का जो यत्र-तत्र वर्णन उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि दुन्दुभि वैदिक युग के युद्ध का प्रमुख वाद्य था। ऋग्वेद में दुन्दुभि की महिमा का वर्णन कुछ इस प्रकार अति रोचक है—हे दुन्दुभि! तू अपनी ध्वनि से पृथिवी और द्यु लोक को भर दे, जिससे लोक तेरी महिमा स्वीकार कर ले। इन्द्र तथा अन्य देवों द्वारा सेवित हे दुन्दुभि! तू दूर से, अति दूर से शत्रुओं को भगा दे। दुन्दुभि! तू इन्द्र की मुष्टि है। हमें बल और ओज की प्राप्ति करा।[1] रण-भूमि में विजय-घोष करने के निमित्त दुन्दुभि बड़े चाव और घनघोर गर्जन के साथ बजायी जाती थी, इस तथ्य की पुष्टि के भी प्रमाण संकेत रूप में ऋग्वेद में प्राप्त हैं। इस विषय के एक प्रसग मे इस प्रकार वर्णन है—हे इन्द्र! शत्रु सेना को भली प्रकार खदेड़ दीजिए और विजयध्वजयुक्त अपने इन सैनिकों को लौटा लीजिए। दुन्दुभि घोर गर्जन कर रही है। हमारे रथारोही योद्धा निर्भय एवं निर्विघ्न होकर रणभूमि में स्वच्छन्द विचर रहे हैं। हे इन्द्र! हमारे रथारोही वीर योद्धा विजय प्राप्त करें।[2] ऋग्वेद के एक अन्य प्रसंग में ओखली की ध्वनि की समता दुन्दुभि-ध्वनि से करते हुए इस प्रकार वर्णन किया गया है—हे ओखलि! यद्यपि तुझसे घर-घर काम लिया जाता है, तो भी इस यज्ञ में विजयी वीरों की दुन्दुभि-ध्वनि के समान तू ध्वनि करती है।[3]

दुन्दुभि एक प्रकार का नगाड़ा होता था, जो सम्भवतः आधुनिक नगाड़े का पूर्व रूप रहा होगा। प्राचीनतम दुन्दुभि के विषय में विद्वानों का मत है कि पृथिवी में गड्ढा खोदकर उसके मुख पर चर्म मढ़ दिया जाता था और फिर उसे डण्डे से पीटकर ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। समय के साथ-साथ दुन्दुभि के आकार-प्रकार एवं स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। कुछ समय के उपरान्त गड्ढे का स्थान मिट्टी अथवा धातु के पात्र ने ग्रहण कर लिया और उस पात्र के मुख पर चर्म मढ़कर दुन्दुभि को नया रूप दिया गया। तब से एक विशेष स्थान मात्र पर ही वह स्थायी न रही अपितु वादक की इच्छानुसार प्रत्येक स्थान पर पहुँचने योग्य हो गयी। युद्ध के अवसर पर सैनिकों

१. २९।४७।६ ऋग्वेद। २. ३०।४७।६ ऋग्वेद। ३. ५।२८।१ ऋग्वेद।

को उत्साहित करने के लिए जो व्यक्ति दुन्दुभि बजाते थे और बजाने की कला में कुशल होते थे, वैदिक आर्यों में उन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिया जाता था। दुन्दुभि बजाने की कला में कुशल व्यक्तियों के लिए सम्मान प्रदर्शन होना चाहिए, इस तथ्य की पुष्टि यजुर्वेद में स्पष्ट शब्दों में की गयी है।[१]

शंख

शंख भी वैदिक युग का लोकप्रिय वाद्य बतलाया गया है। प्रसंग से ज्ञात होता है कि शत्रु को भयभीत करने और अपने सैनिकों को प्रोत्साहित एवं उत्तेजित करने के लिए शंख का भी उपयोग किया जाता था। वैदिक युद्धों में शंख बजाये जाते थे। यजुर्वेद के एक मंत्र में संकेत किया गया है कि शत्रु को भयभीत करने के लिए शंख बजाने वाले पुरुष के लिए विशेष सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए।[२] यजुर्वेद के इस संकेत से स्पष्ट है कि वैदिक युद्धों में शंखध्वनि की जाती थी और विजय के उपरान्त विशेष रूप में शंखध्वनि की जाती थी।

अथर्ववेद में शंख की उत्पत्ति समुद्र से और उसकी ध्वनि की उत्पत्ति वायु से हुई बतलायी गयी है।[३] अथर्ववेद में इस ओर भी संकेत है कि युद्ध के अवसर पर योद्धा गण अपने रथों में शंख रखते थे। कुछ योद्धा अपने तूणीर के पास पीठ पर शंख भी लटकाये रखते थे।[४] योद्धाओं की आयु, उनके तेज, बल और उनके लिए सौ वर्ष लम्बी आयु की प्राप्ति व शुभ कामना के हेतु सेनानायक के शरीर पर पुरोहित द्वारा शंख बाँधा जाता था।[५] इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य जनता में शंख नाम के वाद्य का बड़ा महत्त्व था। यद्यपि ऋग्वेद में ऐसे प्रसंग नहीं हैं, तथापि यह निश्चित है कि वैदिक आर्य युद्धकाल में शंख का उपयोग अवश्य करते होंगे।

कर्करि

ऋग्वेद में कर्करि नाम के एक विशेष वाद्य का भी उल्लेख है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में कर्करि की ध्वनि की समता विदथ में उसके सदस्यों की निर्भीक वाणी की ध्वनि से की गयी है।[६] अथर्ववेद में भी कर्करि वाद्य की ओर किया गया संकेत प्राप्त

१. ३५।१६ यजुर्वेद। २. १९।३० यजुर्वेद। ३. ४।१०।४ अथर्ववेद।
४. ६।१०।४ अथर्ववेद। ५. ७।१०।४ अथर्ववेद। ६. ३।४३।२ ऋग्वेद।
३।१३२।२ अथर्ववेद।

है।[1] कर्करि वाद्य का क्या आकार-प्रकार एवं स्वरूप था, इस प्रश्न के समाधान हेतु वैदिक साहित्य में तथ्यपूर्ण सामग्री का सर्वथा अभाव है। ऐसी परिस्थिति में कर्करि के आकार-प्रकार एवं उसके स्वरूप के विषय में मौन रहना ही उचित जान पड़ता है।

गर्गर

ऋग्वेद में गर्गर नाम के एक विशेष वाद्य की ओर भी संकेत किया गया है। परन्तु इस वाद्य के विषय में केवल इतना संकेत है कि रणस्थल में गर्गर भयंकर ध्वनि कर रहा है। यह संकेत युद्ध के प्रसंग में है। इसलिए गर्गर को युद्ध के बाजों में परिगणित किया जाना न्याय संगत होगा। गर्गर के विषय में ऋग्वेद में यह संकेत इस प्रकार प्राप्त है—गर्गर भयंकर ध्वनि से घहरा रहा है, चारों ओर शब्द कर रहा है। पिंगल वर्ण ज्या (धनुष की डोरी) शब्द कर रही है। इसलिए इन्द्र की स्तुति करनी चाहिए।[2] परन्तु इस संकेत मात्र से गर्गर के स्वरूप तथा उसके आकार-प्रकार के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना न्याययुक्त न होगा। गर्गर के विषय में केवल इतना अवश्य कहना उचित होगा कि यह वैदिक युग में युद्ध का एक वाद्य था।

ध्वज

वैदिक संहिताओं में इस ओर भी संकेत किये गये हैं कि उस युग में ध्वज फहराने का भी चलन था। युद्ध काल में सेनानायक अपना पृथक्-पृथक् ध्वज रखते थे। ऋग्वेद में इस तथ्य की ओर संकेत है। आर्यों के राजा इन्द्र का अपना ध्वज था जिसे वह युद्ध में फहराया करता था।[3] यजुर्वेद में ऋग्वेद के एक मंत्र की पुनरावृत्ति कर इसी तथ्य की पुष्टि की गयी है।[4] यह भी सम्भव है, इन ध्वजों पर राजाओं, सेनानी, सेनानायकों आदि के पूर्वनिर्धारित अपने अपने चिह्न अंकित रहते होंगे जिससे वे सरलता पूर्वक पहचाने जा सकें।

युद्ध के अवसर पर प्रमुख सेनानायकों द्वारा अपना-अपना पृथक् ध्वज रखने का यह चलन प्राचीन भारत में निरन्तर प्रचलित रहा। महाभारत में इस तथ्य की पुष्टि हेतु प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। कौरव तथा पाण्डव सेनाओं के विविध सेनानायकों

१. ५।३७।४ अथर्ववेद। २. ९।६९।८ ऋग्वेद। ३. २।८३।७ ऋग्वेद। २।८५।७ ऋग्वेद। ११।१०३।१० ऋग्वेद। ४. ४३।१७ यजुर्वेद।

के पृथक्-पृथक् ध्वजों का उल्लेख है। इन प्रसंगों के अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विविध सेनानायकों में से अर्जुन के ध्वज में कपि का चित्र था। इसीलिए अर्जुन को कपिध्वज के नाम से सम्बोधित किया गया है। जयद्रथ के ध्वज में वराह का चित्र था। इसी प्रकार महाभारत में अन्य सेना नायकों के ध्वज भी पृथक्-पृथक् विशेष निजी चिन्हों से अंकित वर्णित हैं।[1]

इन ध्वजों के अतिरिक्त छोटे-छोटे ध्वजों (पताकाओं) का भी उपयोग किया जाता था, जिन्हें वैदिक संहिताओं में केतु की संज्ञा दी गयी है।[2] अथर्ववेद के एक प्रसंग में सेना केतु से सुशोभित वर्णित है।[3]

युद्ध-काल

वैदिक आर्यों ने देश के जलवायु, ऋतुओं आदि को ध्यान में रखकर युद्धकाल निर्धारित किया है। वर्ष में प्रत्येक ऋतु एवं प्रत्येक काल युद्ध हेतु अनुकूल नहीं होता। प्रत्येक समय युद्ध हेतु सेना का प्रस्थान करना न तो उचित ही है और न सुविधा जनक। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने इन सभी बातों को ध्यान में रखकर युद्ध काल का निर्धारण किया है। वैदिक संहिताओं में कहीं भी ऐसा संकेत प्राप्त नहीं है जिसमें युद्ध काल पर लेशमात्र भी प्रकाश पड़ सके। ब्राह्मण साहित्य में कुछ ऐसी सामग्री अवश्य प्राप्त है जिसके आधार से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ जाता है। शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल पर इस ओर संकेत किया गया है। इस संकेत के अनुसार युद्ध हेतु आक्रमण करने का उत्तम एवं सबसे उपयुक्त समय चित्रा नक्षत्र काल बतलाया गया है। चित्रा नक्षत्र लगभग एक पखवारे की अवधि में रहता है। इस नक्षत्र का आरम्भ प्रति वर्ष १० अक्तूबर के आस-पास हुआ करता है। लगभग १५ अक्तूबर से उत्तरी भारत में वर्षा ऋतु का अन्त और शरद ऋतु का प्रारम्भ होता है। अतः यह समय युद्ध हेतु उत्तम माना गया है। प्राचीन काल में सम्भवतः इसी अवसर पर क्षत्रिय नरेश शत्रु विजय हेतु प्रस्थान किया करते थे। आज भी विजयादशमी का, जो कि प्रायः इन्हीं दिनों में आती है, महत्त्व है और उस दिन विजय का दिन समझा जाता है, अर्थात् वह दिन विजय हेतु नरेशों के प्रस्थान करने का उपयुक्त समय होता है। शतपथ ब्राह्मण के इस प्रसंग में कहा गया है—चित्रा नक्षत्र में शत्रु विजय हेतु आक्रमण करे।

१. ४।८५ द्रोणपर्व। २६।७ द्रोणपर्व। ३।४३ द्रोणपर्व।
२. १।१०३।१ ऋग्वेद। ३. ३।१०३।६ अथर्ववेद।

वैदिक युग के उपरान्त प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्र-प्रणेताओं ने युद्ध हेतु उपयुक्त समय का विशेष उल्लेख किया है। प्राचीन भारत के इन राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इस सिद्धान्त का विरोध किया है कि वर्ष के किसी भी मास में युद्ध के लिए प्रस्थान किया जा सकता है। उन्होंने इस पुरुषार्थ युक्त कार्य हेतु वर्ष के कतिपय मास निर्धारित किये हैं। भारत के जलवायु एवं भूमि की उपज के आधार पर युद्ध घोषित करने का समय रखा गया है। इस विषय में मनु ने व्यवस्था दी है—राजा अपने सैन्यबल की सामर्थ्य के अनुसार शुभ मार्गशीर्ष अथवा फाल्गुन वा चैत्र मास में युद्ध-हेतु प्रस्थान करे।[1]

आचार्य कौटिल्य ने भी वर्ष के कुछ ही मास युद्ध हेतु श्रेष्ठ माने हैं। वे मार्गशीर्ष, चैत्र और ज्येष्ठ मास हैं। इन्हीं मासों में युद्ध के लिए यात्रा करने के पृथक्-पृथक् हेतु भी उनके द्वारा दिये गये हैं।[2] इसके अतिरिक्त देश के जलवायु, उसकी भूमि-स्थिति के अनुसार भी युद्ध के निमित्त गमन करने के पक्ष में कौटिल्य थे।[3] इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने देश, काल और परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि में रखकर युद्ध-यात्रा हेतु गमन करना कल्याणप्रद बतलाया है।

शुक्र ने भी युद्ध काल का निर्धारण किया है। उन्होंने शरद, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में युद्ध घोषित किया जाना उत्तम बतलाया है।[4] उनके मतानुसार वसन्त ऋतु का समय युद्ध हेतु मध्यम काल और ग्रीष्म ऋतु का समय अधम काल होता है। उन्होंने वर्षा ऋतु युद्ध के लिए सर्वथा वर्जित काल माना है। उनका मत है कि वर्षा ऋतु सन्धि करने का समय होता है।[5] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में निर्धारित किये गये युद्धकाल की पुष्टि शुक्र ने किसी अंश में की है।

विजयी राजा के प्रति विजित राजा का व्यवहार एवं आचरण

जब परस्पर विरोधी दो शत्रु राजाओं में किसी कारण युद्ध होना है तो उनमें एक को पराजय भोगनी ही पड़ती है। जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित होती है तो कभी-कभी विजयी राजा अपने पराजित शत्रु राजा को बन्दी भी बना लेता है और

१. १८२।७ मनुस्मृति। २. ३४ से ३६।१।९ अर्थशास्त्र।
३. ३७ से ४१।१।९ अर्थशास्त्र। ४. १०५६।४ शुक्रनीति।
५. १०५७।४ शुक्रनीति।

उसे कुछ समय के लिए अपने आश्रित रखता है। ऐसी परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर विजयी राजा के प्रति उस पराजित राजा का आचरण एवं व्यवहार कैसा होना चाहिए, इस विषय की सामग्री वैदिक संहिताओं में नहीं है। उत्तर वैदिक युग के साहित्य में यत्र-तत्र कुछ ऐसी सामग्री संकेत रूप में अवश्य प्राप्त है। ऐतरेय ब्राह्मण के अन्त में इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर संकेत किया गया है। इस संकेत का प्रसंग इस प्रकार है—कुषारु के पुत्र मैत्रेय ने कृषि के पुत्र सत्वन् से कहा कि (अपने शत्रु स्वामी राजा के प्रति ऐसा व्यवहार करने से) उसके पाँच शत्रु राजा मर गये और वह बड़ा हो गया। उसका व्रत यह है—"शत्रु स्वामी के बैठने के पूर्व (पहले) न बैठे। जब समझ ले कि वह खड़ा हुआ है तब खड़ा हो जाय। अपने शत्रु के लेटने के पहले न लेटे। जब समझे कि वह बैठा है तो स्वयं बैठे। जब तक शत्रु न सो जाय उसे सोना नहीं चाहिए। शत्रु के जाग जाने पर जाग जाय। इस प्रकार आचरण करने से यदि शत्रु अश्ममूर्धा (पत्थर जैसे कठोर सिर वाला) भी हो तो भी शीघ्र ही चूर-चूर हो जायगा।"[1]

इस प्रकार अपने स्वामी विजयी राजा के प्रति पराजित राजा के आचरण एवं व्यवहार का सांकेतिक उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम अंश में प्राप्त है जो समयानुकूल है। इसमें सूत्र रूप से उसकी इच्छा के अनुकूल अनुवर्तन और शिष्ट आचरण करने का भाव निहित है।

१. २८।१०।५ ऐतरेय ब्राह्मण।

परिशिष्ट

पुस्तक-सूची

(क) वैदिक संहिता साहित्य

१. ऋग्वेद संहिता, स्वाध्याय मंडल, पार्डी, सूरत (सातवलेकर-सं०)
२. ऋग्वेद संहिता, सायण भाष्य सहित।
३. ऋग्वेद संहिता, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित।
४. ऋग्वेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र), आर० टी० एच० ग्रिफिथ।
५. ऋग्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित), जयदेव विद्यालंकार।
६. ऋग्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित प्रथम मण्डल मात्र), स्वामी दयानन्द सरस्वती।
७. यजुर्वेद संहिता, उव्वट-महीधर भाष्य सहित।
८. यजुर्वेद संहिता, स्वाध्याय मंडल, सूरत।
९. यजुर्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित), स्वामी दयानन्द सरस्वती।
१०. यजुर्वेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित) जयदेव विद्यालंकार।
११. यजुर्वेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद सहित), आर० टी० एच० ग्रिफिथ।
१२. यजुर्वेद (कठ) संहिता, मैसूर संस्करण।
१३. यजुर्वेद (तैत्तिरीय) संहिता, भट्टभास्कर मिश्र, सायणभाष्य सहित।
१४. यजुर्वेद (कपिष्ठल) संहिता, मूल मात्र।
१५. यजुर्वेद (मैत्रायणी) संहिता, मूलमात्र।
१६. यजुर्वेद (काण्व शाखा, प्रथम २० अध्याय मात्र), सायणाचार्य भाष्य।
१७. सामवेद संहिता, स्वाध्याय मंडल, सूरत।
१८. सामवेद संहिता (हिन्दी भाषानुवाद सहित), जयदेव विद्यालंकार।
१९. सामवेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र), आर० टी० एच० ग्रिफिथ।
२०. सामवेद संहिता (जैमिनीय शाखा), डा० रघुवीर सम्पादित।
२१. सामवेद संहिता (कौथुमी शाखा), गानात्मक।
२२. अथर्ववेद संहिता (शौनकीय शाखा) स्वाध्याय मंडल, सूरत।

२३. अथर्ववेद संहिता (पैप्पलाद शाखा) डा० रघुवीर सम्पादित।
२४. अथर्ववेद संहिता, सायणाचार्य भाष्य सहित।
२५. अथर्ववेद संहिता, (हिन्दी भाषानुवाद सहित), जयदेव विद्यालंकार।
२६. अथर्ववेद संहिता (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र), आर० टी० एच० ग्रिफिथ।
२७. अथर्ववेद संहिता (अंग्रेजी भाषा टीका मात्र), ह्निटनी।

(ख) वैदिक ब्राह्मण साहित्य

२८. ऐतरेय ब्राह्मण, सायण भाष्य सहित।
२९. ऐतरेय ब्राह्मण, (वृत्ति सुख प्रदा सहित) अनन्तकृष्ण शास्त्री।
३०. ऐतरेय ब्राह्मण, मार्टिन हेग संपादित।
३१. ऐतरेय ब्राह्मण, (हिन्दी भाषानुवाद मात्र) गंगाप्रसाद उपाध्याय।
३२. कौशीतकी ब्राह्मण, सत्यव्रत सामश्रमी संपादित।
३३. तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायणाचार्य भाष्य सहित।
३४. शतपथ ब्राह्मण, सायणाचार्य भाष्य सहित।
३५. शतपथ ब्राह्मण, वेबर सम्पादित।
३६. ताण्डय महाब्राह्मण, सायणाचार्य भाष्य सहित।
३७. जैमिनीय ब्राह्मण, डा० लोकेशचन्द्र सम्पादित।
३८. षड्विंश ब्राह्मण, मूल मात्र।
३९. गोपथ ब्राह्मण, मूल

(ग) आरण्यक साहित्य

४०. कौशीतकी आरण्यक, मूल मात्र।
४१. तैत्तिरीय आरण्यक, सायणाचार्य भाष्य सहित।
४२. बृहदारण्यक, शांकरभाष्य।
४३. ऐतरेयारण्यक, सायण भाष्य।

(घ) उपनिषद् साहित्य

४४. ईशादि नौ उपनिषद्, शांकर भाष्य।
४५. छान्दोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य।
४६. बृहादारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य।

४७. ईशादि अष्टोपनिषद्, हिन्दी व्याख्या, स्वामी विद्यानन्द कृत, (सं० चिरंजीव शास्त्री)।
४८. छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य (आनन्दगिरि व्याख्या सहित)।
४९. मुक्तिकोपनिषद्, हिन्दी भाषानुवाद सहित।
५०. श्वेताश्वतरोपनिषद्, शांकरभाष्य (शंकरानन्द प्रणीत दीपिका व्याख्या सहित)।

(ङ) रामायण-महाभारत

५१. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, गोविन्दराज टीका सहित, टी० आर० कृष्णाचार्य तथा टी० आर० व्यासाचार्य।
५२. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (गोविन्दराज टीका सहित), श्रीनिवास शास्त्री।
५३. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिन्दी भाषानुवाद सहित), चन्द्रशेखर शास्त्री।
५४. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर।
५५. श्रीमन्महाभारत, पी० पी० एस० शास्त्री।
५६. श्रीमन्महाभारत, नीलकण्ठी टीका सहित।
५७. श्रीमन्महाभारत (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गंगाप्रसाद शास्त्री।
५८. श्रीमन्महाभारत (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर।

(च) स्मृति साहित्य

५९. मनुस्मृति (मन्वर्थमुक्तावली सहित), कुल्लूक भट्ट।
६०. मनुस्मृति (अंग्रेजी भाषानुवाद) गंगानाथ झा।
६१. मनुस्मृति (हिन्दी भाषानुवाद सहित), तुलसी राम।
६२. मनुस्मृति, मनुभाष्य, मेधातिथि।
६३. स्मृतीनां समुच्चयः, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

(छ) पुराण साहित्य

६४. श्रीमद्भागवत पुराण (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।
६५. मार्कण्डेय पुराण, वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई।
६६. विष्णु पुराण (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।

(ज) अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र

६७. कौटिल्य का अर्थशास्त्र (संस्कृत टीका सहित), गणपति शास्त्री।
६८. कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र), शाम शास्त्री।

६९. कौटिल्य का अर्थशास्त्र (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गंगाप्रसाद शास्त्री।
७०. कामन्दकनीति, पं० जगन्मंगल लिखित पाण्डुलिपि मूल मात्र (उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् से प्राप्त)।
७१. कामन्दकनीति (हिन्दी भाषानुवाद सहित), वैंकटेश्वर छापा खाना, बम्बई।
७२. शुक्रनीति (हिन्दी भाषानुवाद सहित), गंगाप्रसाद शास्त्री।
७३. शुक्रनीति (अंग्रेजी भाषानुवाद मात्र), विनयकुमार सरकार।
७४. नीतिवाक्यामृत, सोमदेव सूरि।

(झ) अन्य ग्रन्थ

७५. गुप्त-इंस्क्रिपशन, गंगानाथ झा।
७६. कार्पस इंस्क्रिपशन, १, हुल्स।
७७. कार्पस इंस्क्रिपशन, ३, फ्लीट।
७८. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, ई० जे० रैपसन।
७९. अर्ली हिस्ट्री आफ् इण्डिया, वी० ए० स्मिथ।
८०. हिस्ट्री आफ् एण्टी क्विटीज, मैक्सडुन्कर।
८१. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, मैकडानल।
८२. हिस्ट्री आफ एन्शीण्ट संस्कृत लिटरेचर, मैक्समूलर।
८३. हिस्ट्री आफ् इण्डियन लिटरेचर (द्वितीय संस्करण), वेबर।
८४. हिन्दू पालिटी, द्वितीय संस्करण, काशी प्रसाद जायसवाल।
८५. प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, ए० एस० अल्तेकर।
८६. वार इन् एन्शीयन्ट इण्डिया, दीक्षितार।
८७. हिस्ट्री आफ् इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, यू० एन० घोषाल।
८८. जनतन्त्रवाद (रामायण-महाभारत कालीन), श्यामलाल पाण्डेय।
८९. मनु का राजधर्म, श्यामलाल पाण्डेय।
९०. भीष्म का राजधर्म, श्यामलाल पाण्डेय।
९१. कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था, श्यामलाल पाण्डेय।
९२. शुक्र की राजनीति, श्यामलाल पाण्डेय।
९३. भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, श्यामलाल पाण्डेय।
९४. अशोक, डी० आर० भण्डारकर।

९५. अशोक, आ० के० मुकर्जी।
९६. हिन्दू सिविलिजेशन, आ० के० मुकर्जी।
९७. रिपब्लिक, प्लैटो।
९८. पोलिटिकल थ्योरीज, डब्लू० ए० डनिंग्स।
९९. निघण्टु, यास्क मुनि प्रणीत।
१००. निरुक्त, यास्क मुनि प्रणीत।
१०१. वेदिक इण्डेक्स, मैकडानल तथा कीथ।